॥ श्रीहरिः पातु मां सदा ॥



नारदकृत-

भक्ति-सूत्रम्

प्रथम अनुवाक



एक समय श्रीमन्नारायणावतार महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेद व्यासजी ने वदरिकाश्रममें निवास करते हुए अपनी इच्छानुसार विचरते २ तहां आकर उपस्थित हुए देवर्षि नारदजी को देख उनका विधि विधानसे सत्कार करके बूझा, कि-हे देवर्षे ! सुख दुःख मनुष्य के अधीन नहीं हैं, किन्तु मनुष्य मात्र सुख दुःखके अधीन हैं, सुख-दुःखमय संसार मनुष्यका बन्धन है, मनुष्य बन्धनको नहीं चाहता, इसलिये अनिच्छित संसारबन्धनसे मोक्ष होने की आवश्यकता है, वह मोक्ष उपाय से साध्य है, कर्म मोक्षका साक्षात् उपाय नहीं माना जासकता। यद्यपि ज्ञान मोक्षका साक्षात् उपायस्वरूप गिना जाता है, तथापि भक्तिविहीन ज्ञानको शास्त्र अकिञ्चित्कर

कहता है इसकारण परम पुरुषार्थ मोक्ष की एकमात्र साधन रूप भक्ति की व्याख्या करिये ? तब महर्षि नारदजी कुछ सूत्रों के द्वारा भक्ति की व्याख्या करने लगे उन नारद कृत भक्तिसूत्रों में पहिला सूत्र यह है-

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥१॥

अथ शब्दो मंगलवाचकः, तथा चोक्तं—ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ । आनन्तर्यवाचको वा अथशब्दः, द्वैपायनप्रश्नानन्तरमित्यर्थः । अतः भक्तेरेव परमपुरुषार्थोपायभूतत्वात् भक्तिं व्याख्यास्यामः भक्तिं तत्त्ववर्णनेन विवृणुमः ।

पदार्थ

(अथ) कृष्णद्वैपायनके प्रश्न करने के अनन्तर (अतः) एक मात्र भक्तिके ही परम पुरुषार्थ मोक्षका साधन होने से (भक्तिम्) भक्ति को (व्याख्यास्यामः) तत्त्व वर्णन के द्वारा विस्तार से वर्णन करेंगे।

(भावार्थ)

कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी के प्रश्न करने पर देवर्षि नारदजी ने कहा, कि—हे महर्षे ! मैं आप के प्रश्नके अनुसार परम पुरुषार्थसाधक परमप्रेमरूपा भक्ति की व्याख्या करूँगा, आप का अवतार लोकोपकार के ही निमित्त है, आपने मुझ से जो यह भक्तिविषयक प्रश्न किया है, यह भी लोकोपकार करने के लिए ही है। आपने अपने शिष्य जैमिनि मुनि के द्वारा पूर्वमीमांसा में कर्मजिज्ञासा और स्वयं ने

उत्तर मीमांसा में ज्ञानजिज्ञासा की है। इस समय भक्तिजिज्ञासा के मिषसे मेरे मुखसे भक्ति की व्याख्या करने को प्रवृत्त हुए हो। यद्यपि मैं आप की आज्ञा से भक्ति की व्याख्या करूँगा, परन्तु भक्ति की पूर्ण वास्तविक व्याख्या तो आप स्वयं ही करेंगे यह मेरा भक्तिसूत्र आप की उत्तर मीमांसा के अन्तर्गत अति संक्षिप्त भक्तिलक्षण के व्याख्यान के स्थल में सूत्ररूप ही गिनाजायगा आप स्वयं ही ब्रह्मसूत्र के भाष्यरूप श्रीमद्भागवत में स्वरचित भक्तिलक्षण के व्याख्यानरूप इन मेरे भक्तिसूत्रों की सविस्तर व्याख्या करेंगे ॥ १ ॥

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥

सा व्याख्यातुमारब्धा भक्तिस्तु अस्मिन् विश्वव्यापिनि श्रीमन्नारायणे परमप्रेमरूपा ॥ सा कस्मै परमप्रेमरूपा,, इत्यपि पाठः । कस्मै परमेश्वराय, परमेश्वरः सदा प्रश्नार्हत्वात्किं शब्दे नोच्यते, तथा चोक्तं महाभारते--विष्णुसहस्रनामसु नैकः स सर्वः कः किमिति ॥

का रुचिकर भावमय और चेष्टामय अनुशीलन ही भक्ति का स्वरूप लक्षण है, यह अनुशीलन उपाधिरहित हो तो इस को उत्तमा भक्ति कहते हैं, स्वरूपसिद्धा केवल शुद्धा आदि उत्तमा भक्ति के ही नाम हैं, यह उत्तमा भक्ति साध्य और साधन भेदसे दो प्रकार की है, एक साध्यरूपा दूसरी साधनरूपा। साध्यभक्ति प्रेममयी वा भावमयी है, और इस साध्यभक्ति को प्रकाशित करने वाली चेष्टामयी भक्ति ही साधन भक्ति है। भाव शब्द का अर्थ रति है, यद्यपि शान्त आदि भेद से रति पांच प्रकार की है, परन्तु कान्तारति सर्वोपरि है। यह रति भी मिश्रा और केवला दो प्रकार की है। केवला रति मिश्रा रति से स्वाभाविक ही श्रेष्ठ है, इसी से सूत्रमें के परमप्रेम शब्द का अर्थ केवला कान्तारति है अर्थात् केवला कान्तारति वा परमप्रेम भक्ति शब्द का अर्थ है। गोपालतापिनी उपनिषद् की श्रुति कहती है, कि—"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेतदेव नैष्कर्म्यम्"। अर्थात् श्रीकृष्ण नामक परतत्त्व का भजन कहिये अनुकूल श्रवण आदि का चेष्टारूप अनुशीलन और उस श्रीकृष्ण नामक परतत्त्व में मनःकल्पन अर्थात् अनुकूल श्रवण आदि की चेष्टा युक्त अन्य प्रकार के विश्वास से रहित सजातीय विश्वास का प्रवाहरूप भावमय अनुशीलन, भक्ति का स्वरूप लक्षण है, उपाधिरहित होना उसका तटस्थ लक्षण है। उपाधि शब्द का अर्थ है, इस लोक की भोगाभिलाप और पारलौकिक मोक्षाभिलाप, भोगाभिलाप का साधन कर्म और मोक्षाभिलाप का

साधन ज्ञान है। इस से सिद्ध हुआ कि—जिस में कर्म का वा ज्ञान का मिश्रण न हो वह भक्ति ही उपाधिरहित तटस्थ-लक्षणा भक्ति है। कर्म और ज्ञान के मिश्रण विना भी भक्ति मोक्षकरी है, क्योंकि—मोक्ष तो भक्ति का आनुषंगिक फल सिद्ध होता है। इस प्रकार नारदजी का कहा हुआ भक्ति का लक्षण श्रुतिके साथ भी मिलता हुआ है ॥ * ॥ अनादि परतत्त्व परमात्मा से विमुख होने के कारण माया से आच्छन्न हुआ मनुष्य देह को ही आत्मा मानने के अनन्तर देह के दुःख से मोहित होकर और विषयभोग से खिंचकर संसार-चक्र में घूमा करता है। जब स्वयं ही किसी मनुष्य की उन विषयों की ओर को खिंचावट से कुछ एक निवृत्ति होती है उसी समय परतत्त्व की विमुखता दूर होकर परतत्त्व के सन्मुख होने में प्रवृत्ति होती है अर्थात् विषयभोग का आकर्षण होते हुए भी सौभाग्यवश शास्त्र में वर्णित परमेश्वर आत्मा पर-लोक और कर्म फल आदि में विश्वास के साथ उस का चित्त क्रम से अन्तर्मुख होने लगता है, इन ही विषयों का विचार धीरे २ बढ़ने लगता है, उस विचार के फल से साधुसङ्ग होता है, उस विचार के द्वारा वैराग्य होने पर ज्ञानी का संग होता है, और उस से उत्पन्न हुए कारुण्यभाव से भक्त का संग होता है, साधु के ज्ञानी होने पर उस के साथ २ भक्ति की इच्छा वलवती होती जाती है, और इस प्रकार भक्ति की इच्छा वलवती होने पर दीनता और निरपेक्षता के साथ भजन क्रिया वा परतत्त्वविषयक श्रवण—कीर्त्तनादिरूप अनु-कूल चेष्टा का उदय होता है यह चेष्टा ही साधन भक्ति है।

साधन के पक जाने पर अनर्थ की निवृत्ति के अनन्तर निष्ठा आदि के क्रम से भाव प्रकट होता है, भाव का परिपाक होजाना वा दृढ़ता ही प्रेम है। कान्ताप्रेम ही हमारे प्रेम की पराकाष्ठा है, इस कारण उस को ही परम प्रेम शब्द से कह सकते हैं और वह परम प्रेम ही भक्ति का स्वरूप लक्षण है, अन्य प्रेम उपलक्षण हैं। प्रेम भगवान् की स्वरूपशक्ति की एक वृत्ति है, उस को भगवान् के नित्य सिद्ध सेवक अपनी सम्पत्ति समझते हैं, वह नित्यधाम के नित्य सिद्ध भगवत्पारिषदों की सम्पत्ति होने पर भी श्रीभगवान् के अनुग्रह से देवनदी गंगा के प्रवाह की समान संसार में आकर और शुद्ध जीवों के स्वभाव के साथ एकाकार होकर उन की स्वाभाविक वृत्ति के रूप में वह रही है। कहा भी है, कि—"देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्। सत्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥ अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोषं निगीर्णमनलो यथा॥" अर्थात् प्रकृति के तीनों गुण जिन की उपाधि है और वेद पुराणादि में जिन के कर्मों का वर्णन है उन तीनों देवताओं में अधिष्ठान के द्वारा सत्वगुण का उपकार करने वाले श्रीविष्णु भगवान् में अनन्य चित्त से पुरुष की जो स्वाभाविक वृत्ति होती है अर्थात् अनुकूलतादि रूप एक प्रकार का ज्ञान होता है उस का ही नाम भागवती भक्ति है। वह स्वरूप शक्ति की वृत्ति होने पर भी विषयसौन्दर्य के कारण विना यत्न के शुभ भक्त के स्वभावके साथ एकाकार होकर प्रकाशित होने

पर ही उस को जीवशक्ति की स्वाभाविक वृत्ति कहते हैं, उस में किसी फल की अभिलाषा नहीं रहती, वह मोक्षपर्यन्त सब प्रकार की सिद्धियों से बड़ी है, जैसे पेट में की जठराग्नि पेट में पहुंचे हुए सकल पदार्थों को पचाकर जीर्ण करदेती है तैसे ही वह वृत्ति जीव के अन्नमयादि सकल कोषों को शीघ्र ही जीर्ण कर देती है। भागवती भक्ति स्वरूपशक्ति की वृत्ति है, जीवशक्ति की वृत्ति लौकिकी भक्ति है, यह लौकिकी भक्ति ही स्वाभाविक वृत्ति है। इस वृत्ति के साथ एकाकार होकर प्रकाशित होती है, इसी से भागवती भक्ति को भी जीव की स्वाभाविक वृत्ति कहा है। भक्त और भजनीय का परस्पर सम्बन्ध होने से ही भक्ति का प्रकाश होता है। लौकिकी भक्ति के मूल में लोकसम्बन्ध है और भागवती भक्ति के मूल में भगवत्सम्बन्ध देखने में आता है। लोक सम्बन्ध दास्यभाव आदि स्वरूप है, भगवत्सम्बन्ध भी ऐसा ही है। कितने ही पुरुष समझते हैं, कि—अलौकिक सम्बन्ध लौकिक संबन्ध से अन्य प्रकार का ही होगा, परन्तु हम ऐसा नहीं मानते, क्योंकि—लोक, परलोक से सर्वथा भिन्न नहीं है, लौकिक संसार अलौकिक संसार के ही अनुरूप है, जीव का संसार भगवत्संसारकी ही छाया है। भगवान् ने जैसे जीव को प्रायः अपनी सदृश रचा है तैसे ही जीव के संसार को भी अप्राकृत संसार के अनुरूप ही रचा है। केवल वह पूर्ण है, जीव अपूर्ण है। उन का संसार अप्राकृत है, जीव का संसार प्राकृत है, इतना ही भेद होने पर भी परमेश्वर का अंशभूत जीव, जिस उपाय के द्वारा प्राकृत संसार में से अप्राकृत संसार

में पहुँचेगा वह उपाय प्राकृत और अप्राकृत दोनों के सन्धि-स्थान में स्थित है। वह उपाय प्राकृत होकर भी अप्राकृत और अप्राकृत होकर भी प्राकृत है तथा वह प्राकृत और अप्राकृत का एकीभावरूप है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं होसकता। यह उपाय ही भक्ति है। भक्ति जीव का नेत्र है, वह ज्ञान का सार विज्ञान है, वह हृदयरूप खान में स्थित स्वच्छ रत्न है। देखने योग्य वस्तु के साथ चक्षु का, जानने योग्य वस्तु के साथ विज्ञान का और क्रय योग्य वस्तु के साथ रत्नादि का जो सम्बन्ध है, भक्ति के साथ भगवान् का वही सम्बन्ध है। जीव भक्ति के द्वारा ही भगवान् को देखता, जानता और खरीद लेता है। जीव भक्ति की सहायता से ही प्राकृत संसार के साथ भगवत्संसार का सम्बन्ध स्थापन करता हुआ प्राकृत संसार में ही भगवत्संसार को लेआता है अथवा प्राकृत संसार को लाँघकर भगवत्संसार में प्रवेश करता है। इसमें सन्देह नहीं है कि-भक्ति परतत्त्व में प्रवेश का प्रथम द्वार है, परतत्त्व में चढ़ने की पहिली सीढ़ी है, ऐसा होने पर भी क्या कोई यह कह सकता है, कि-भक्ति शेष द्वार, भक्ति अन्तिम सोपान वा भक्ति सबसे ऊँची सीढ़ी नहीं है। भक्ति ही आदि है, भक्ति ही अन्त है, वह ही जीव का सबसे पहिला आलम्बन है और वही जीव का अन्तिम आश्रय है, भक्ति के बिना परतत्त्व के समीप नहीं पहुँच सकता। परतत्त्व के होने का विश्वास उत्पन्न कराकर भक्ति निवृत्त होजाती है और वह आगे को नहीं बढ़सकती, ऐसा समझना भ्रांति है, ऐसा विश्वास तो साधारण ज्ञान से ही होजाता है, जो ज्ञान पर-

तत्त्व के होने का विश्वास कराता है, भक्ति उसका सारांश है । ज्ञान भूयोदर्शन की परीक्षा का फल है, तर्क युक्तिसे ऊपर स्थित है, यह ज्ञान आस्तिक मात्र को होता है, परन्तु यह नियम नहीं है, कि—कोई आस्तिक होने से ही भक्त होजाय भक्ति के वास्तविक अर्थ में बहुत ही थोड़े से आस्तिक देखे गये हैं । श्रीभगवान् का साक्षात्कार, उन के साथ मिलन और उन के संसार में प्रवेश बहुत ही थोड़े आस्तिकों के भाग्य में होता है । क्या हम सर्वोंने ही श्रीभगवान् को देखा है ? यदि नहीं देखा है, यदि हम को उन का साक्षात्कार नहीं हुआ है तो हम कैसे कहें कि—हम में भक्ति है और हम परमात्मा के भक्त हैं ? हम निरन्तर अपने सामने जिन पदार्थों को देखते हैं उन के प्रत्यक्ष में क्या हम को कुछ संशय होता है ? जिन को देखने की शक्ति नहीं है उन के सिवाय और कोई भी कभी प्रत्यक्ष में संदेह नहीं कर सकता, क्योंकि वह हमारा इन्द्रियजन्य ज्ञान है, उस में तर्क की आवश्यकता नहीं है, हमारी इन्द्रियें ही उस ज्ञान की साक्षी हैं, इन्द्रियें ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । इस प्रत्यक्ष संसार के होने में हम को जैसा विश्वास है, श्रीभगवान् के वा उन के गुणसमूह के होने में क्या हम को वैसा विश्वास है ? इन्द्रियें जैसे सकल प्रत्यक्ष पदार्थों का अनुभव करती हैं, हमारा आत्मा क्या उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय परमात्मा का प्रत्यक्ष करता है ? हम को ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास है, इस बात को मानते हैं, परन्तु वह विश्वास ही भक्ति है, यह बात नहीं मानसकते

विश्वास ही भक्तिराज्य में प्रवेश करने का द्वार है, विश्वास वाला पुरुष ही भक्ति का अधिकारी है,हमारे ज्ञान में परमात्मा का अस्तित्व होने पर भी भक्ति के विना हमारे आत्मा में परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होसकता,यदि वास्तव में हमको परमपुरुषार्थ को पाने के लिये आग्रह है तो केवल उन के अस्तित्वकी धारणामात्र से हमारी तृप्ति कदापि नहीं होसकती उस की सिद्धि के लिए शक्तिमान् लीलामय परम पुरुष का अनुभव होना चाहिये।

हम परम पुरुषार्थ को साधने के लिये ज्ञान कर्मादि अनेकों साधनों का साधन करते हैं, परन्तु भक्ति के विना सब साधन वृथा है, क्योंकि—एक भक्ति ही उस का साधन है। हम नियम के साथ धर्मचर्चा कर सकते हैं, अनेकों अनुष्ठानों में लग-सकेत हैं, परन्तु भक्ति के सामने वह कुछ भी नहीं है। हम सैंकड़ों शास्त्रों की आलोचना कर सकते हैं, अनेकों नियमों को पालन करसकते हैं, परन्तु यह सब हमारे परम पुरुषार्थ के साधनमें विशेष अनुकूल नहीं हैं,यदि यह हमारी परम पुरुषार्थ सिद्धि में विशेष सहायक होते तो हम वारम्वार खाली हाथों और शून्य हृदय से घर को लौट कर न आते अर्थात् इन सकल अनुष्ठानों को करके फिर मायाजाल में न जकड़े जाते और विषयों के अन्धकूप में न गिरते, उधर जिस हृदय में भक्ति का कणमात्र भी उदय होजाता है, वह हृदय फिर कभी शून्य देखने में नहीं आता, उस हृदय वाले को फिर कभी विषयासक्त होते नहीं देखा गया, भक्त के हृदय से किसी दिन

भी परमात्मा का पवित्र आविर्भाव दूर नहीं होता है, भक्त के संसार की हरएक वस्तु में परमात्मा की छवि प्रतिविम्बित होती है। यह ठीक है, कि—प्रलोभनमयी प्रकृति जीव को सदा अपनी ओर को खेंचकर परमात्मा से वहिर्मुख कर देती है, जीव प्रकृति के परदे से आवृत होकर चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार देखता है। परन्तु भक्ति का उदय होने पर वह भाव सर्वथा बदल जाता है, उस का उदय होने पर जीव की सब ही वृत्तियें अन्तर्मुखी होजाती हैं, उस समय प्रकृति का परदा आप से आप ही हटजाता है, परमात्मा के प्रकाश से हृदय का घोर अन्धकारमय प्रदेश भी आलोकमय होजाता है, उस समय दुःखमय संसार सुखमय भासने लगता है उस समय सब प्रकार के सन्देह और सब प्रकार की वासनाएँ उखड़ कर दूर जापड़ती हैं, उस समय ज्ञान कर्म आदि का आवरण इधर उधर को विच्छिन्न और विध्वस्त होजाता है, भक्ति दूरवर्ती परमात्मा को समीपवर्ती कर देती है, वह किसी से न जीते जाने वाले परमात्मा को भक्त के वश में कर देती है। भक्ति का उदय होने पर सब ही चेष्टाएँ प्रतिकूलता छोड़कर अनुकूल होजाती हैं, उस समय संसार में आसक्ति न होने पर भी संसार का विद्वेषरूप वैराग्य हृदय में स्थान नहीं पाता, क्योंकि उस समय संसार का विद्वेषरूप वैराग्य न होने पर भी दीनता और निरपेक्षता के कारण संसार का डरावना आकर्षण न होने से अहंममाभिमान—मूलक संसार—वन्धन आप से आप ही शिथिल होजाता है। उस समय उस के चित्त में परमात्मा

के सिवाय और किसीको भी स्थान नहीं मिलता, अतः भगवत्संग के लिये भक्ति के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। प्रकृति के आकर्षण से जो परमात्मा का विस्मरण होजाता है वह भक्ति के उदय से दूर होजाता है, क्योंकि—उस समय ईश्वर चित्त—राज्य पर अधिकार जमाकर ही विराजमान होते हैं, यह भक्ति केवल अप्रत्यक्ष परमेश्वर का इस प्रकार का प्रत्यक्ष कराकर ही शांत नहीं होजाती है, किंतु जीव को ईश्वर में और ईश्वर को जीव के हृदय में स्थित करती है, भक्त का हृदय परमात्मा का नित्य निवास स्थान है, इसी से भक्त के हृदय में और किसी को स्थान नहीं मिलता। इन सब कारणों से ही भक्ति के सिवाय जीव का हृदय सहज में शुद्ध करने का और कोई उपाय देखने में नहीं आता, भक्ति का उदय होने से वह आपसे आप ही शुद्ध होजाता है। उस समय दायें बायें सामने पीछे ऊपर नीचे सर्वत्र यदि परमेश्वर की मूर्त्ति का ही दर्शन करने लगा, इस के सिवाय और कुछ भी यदि मेरी चाहना की और चित्ताकर्षण की सामग्री नहीं रही, तब तो स्वयं ही आत्मरक्षा होगई, डरावने सांसारिक प्रलोभन से मैंने अपनी रक्षा करली, यदि जीव परमेश्वर के प्रियतम होने की भावना नहीं करसकेगा तो और किसीप्रकार से भी सकल आकर्षणों से समस्त संसार-बन्धनों से नहीं छूट सकेगा और परम पुरुषार्थ की प्राप्ति भी नहीं करसकेगा। यदि देह, गेह विषय, वैभव, माता, पिता, स्त्री, पुत्र, बन्धु, बान्धव आदि सबके ही विषय का प्रेम परमात्मा को अर्पण नहीं करसकेगा

तो उनको अपना प्रियतम भी नहीं मानसकेगा। जितनी भक्ति होगी उतना ही परमात्मा का ज्ञान होगा और उतनी ही अन्यत्र की आसक्ति कम होगी, इसी लिये देवर्षि नारदजी ने भक्ति का लक्षण किया है, कि—परमेश्वर में परम प्रेम ही भक्ति है। इसी कारण दैत्यकुलपावन प्रल्हादजी ने श्रीनृसिंह देव से याचना की थी, कि—हे नाथ ! ऐसी कृपा कीजिये, कि—सकल अविवेकी पुरुषों में जो अनपायिनी प्रीति देखने में आती है, आपके स्मरण आदि में मेरी वह प्रीति ही हृदय में स्थित होय, उस समय वह मेरे हृदय में से दूर न होय, अर्थात् मैं साधनाकाल में सब प्रकार का प्रेम आपको ही अर्पण करसकूँ ॥ २ ॥

अमृत स्वरूपा च ॥ ३ ॥

पदार्थ

(अमृत स्वरूपा—च) अमृतस्वरूप भी है ॥

भावार्थ

वह परमप्रेमरूपा भक्ति अमृतरूप है। समुद्रमन्थन के समय निकलीहुई, रोग, शोक, जरामरणादि-नाशक, देवताओं के भोगनेयोग्य एक परमौषध का नाम अमृत है। भक्ति इस ही अमृत के तुल्य है। परमात्मा की लीलारूप समुद्र को मथने से यह प्रेमरूप अमृत उत्पन्न होता है, वह परमात्मा के प्रेमी साधुजनों के भोगने योग्य है, उसके सेवन से सम्पूर्ण भव-रोग का नाश होता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार के ताप शान्त होते हैं और बारं-

वार जन्ममरणादिरूप संसार का आवागमन विलीन होता है। जीव पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, तृष्णारहित सत्यकाम और सत्यसंकल्प होता है, इस प्रकार यद्यपि प्राकृत अमृत से इसका बड़ाभारी भेद है, तथापि और कोई दृष्टान्त न होने से इसको प्राकृत अमृत के तुल्य ही कहा है ॥ ३ ॥

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति ॥४॥

यत्-प्रेम, लब्ध्वा-प्राप्य, पुमान्-जीवः, सिद्धः, साधनान्तरप्रयोजनरहितः अमृतः-अमरणधर्मा, तृप्तः-ऐहिके पारलौकिके च सुखे वितृष्णः, भवति-सम्पद्यते ॥

पदार्थ

(यत्) जिस भक्ति को (लब्ध्वा) पाकर (पुमान्) जीव (सिद्धः) सिद्ध (भवति) होता है (अमृतः) अमर (भवति) होता है (तृप्तः) तृप्त (भवति) होता है ॥

भावार्थ

प्राकृत अमृत पाकर ही देवता अपने को सिद्ध अमर और तृप्त मानलेते हैं, परन्तु वास्तव में देवता उस अमृत से सिद्ध अमर वा तृप्त नहीं होते यदि होते तो उन में किसी पदार्थ का अभाव ईर्षा, द्वेष, भय और असन्तोष आदि देखने में नहीं आता परन्तु स्वर्ग में इन सब दोषों का होना चिरकाल से पुराण आदि में प्रसिद्ध है, इसके सिवाय वास्तविक ज्ञानी

पुरुष स्वर्ग-सुख को त्याज्य अकिंचित्कर और क्षणभंगुर विचार कर उस से श्रेष्ठ सुख को पाने के लिये चेष्टा करते हुए देखने में आते हैं तथा उन का ऐसा करना सफल भी होता है, परन्तु परमात्मा के प्रेम को पाकर कोई भी भक्त अपने को असिद्ध मृत वा अतृप्त नहीं मानता है, भक्ति का उदय होने पर जीव को और किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती, मुक्ति स्वयं ही आकर उस की सेवा करती है उस को परमानन्द की प्राप्ति होती है, इस कारण उस को इस लोक पर-लोकके किसी सुखभोग की वासना नहीं रहती है, इस कारण यह मानना होगा कि—प्रेम लाभ ही जीव को स्वरूपसम्पदा की प्राप्ति है ॥ ४ ॥

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥५॥

यत् प्रेम, प्राप्य लब्ध्वा, किञ्चित् ऐहिकमामुष्मिकम्वा वस्तु न वाञ्छति अभिलषति, न शोचति चिन्ताकुलो भवति न द्वेष्टि नान्यत्र रमते, नान्यार्थमुत्साही उद्युक्तः भवति॥

पदार्थ

(यत्) जिस प्रेम को (प्राप्य) पाकर (किञ्चित्) कुछ (न) नहीं (वाञ्छति) चाहता है (न) नहीं (शोचति) शोक करता है (न) नहीं (द्वेष्टि) द्वेष करता है (न) नहीं (रमते) आसक्त होता है (न) नहीं (उत्साही) उत्साहवाला (भवति) होता है॥

भावार्थ

इस संसार में सुख पाने के लिये वहुतों को अनेकों प्रकार का कर्म करते देखते हैं, परन्तु उन कर्मों को करके भी किसी को शान्ति पाते नहीं देखते और यह आशा भी नहीं है कि उन में का कोई शान्ति पाजाय। उधर भगवत्प्रेमी को अवश्य ही शान्ति मिलती है, क्योंकि—इच्छा द्वेषादि मन में हुआ करते हैं, परन्तु भक्ति का उदय होने पर मन तो भगवान् के चरणों में अर्पित और विलीन होजाता है, इस प्रकार जव मन की क्रिया और चेष्टा ही न रही तव शोक मोह आसक्ति उत्साह आदि मन की तरङ्गें अपने आप ही विलीन होजायँगी ॥ ५ ॥

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति ॥ ६ ॥

न केवलं कर्मत एव श्रेष्ठयं किन्तु ज्ञानतोऽपि ज्यैष्ठ्यमित्याह यदिति-यत् प्रेम, ज्ञात्वा अनुभूय, मत्तः उन्मत्तः, स्तब्धः निश्चेष्टः आत्मरामः आत्मारतः भवति।

पादर्थ

(यत्) जिस प्रेमको (ज्ञात्वा) अनुभव करके (मत्तः) उन्मत्त (भवति) होता है (स्तब्धः) चेष्टारहित (भवति) होता है (आत्मारामः) आत्माराम (भवति) होता है॥

(भावार्थ)

प्रेम भक्ति में अन्यापन नहीं लाता है, किन्तु जीवको अपने

स्वरूप का अनुभव कराकर रागोन्मत्त, अन्य विषयों में उद्योग रहित और आत्माराम करदेता है अर्थात् जब भक्तके हृदय में प्रेमका उबाल उठता है उस समय उसका शरीर रोमाञ्चित नेत्र अश्रुओं से पूर्ण और स्वर गद्गद् होजाता है, भक्त जिस समय निर्लज्ज की समान ऊँचे स्वर से गाता है और नाचता है उस समय प्रेतबाधा वाले पुरुषकी समान विकट हास्य करता और चिल्लाता है, कभी वारम्बार लम्बी२श्वासें लेकर " श्रीकृष्ण ! नारायण ! वासुदेव,, आदि नामोंका उच्चारण करता है, कभी मग्न हुआ जड़की समान निश्चल बैठजाता है और कभी अपने मनमें आप ही मतवाला होकर परमानन्द को भोगता है। यही बात श्रीमद्भागवत में भक्तशिरोमणि प्रह्लादजीने दैत्य पिता को उपदेश देते समय कही है, कि-" निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि। यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति ॥ यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्या-क्रंदते ध्यायति वंदते जनम् । मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्मगतिर्गतत्रपः ॥ तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्ध-नस्तद्भावभावानुशयाकृताकृतिः । निदग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥,, अर्थात् भक्तजन भगवान् के अनेकों लीला करके धारण किये हुए स्वरूपों के कर्म, अनुपम गुण और पराक्रमों को सुनकर जब हर्ष से पुल-कित नेत्रों में आनन्दाश्रु भरेहुए गद्गदकण्ठ होजाते हैं उस समय बड़े ऊंचे स्वर से गाते, नाचते और रोते हैं; कभी प्रेत-

ग्रस्त मनुष्यों की समान हँसते और चिल्लाते हैं, कभी वार वार लम्बी सांसे लेकर हरे! नारायण! जगत्पते! आदि नाम लेते हुए लज्जा को छोड़कर कीर्त्तन करते हैं जब ऐसी गति होजाती है तब जीव बंधनों से छूट कर भगवान् की भक्ति में भर उन की लीला के अनुकरण चेष्टा आदि करने लगता है और भक्ति के प्रभाव से सुकर्म दुष्कर्मों के बीजों को जलाकर भगवान् को प्राप्त होजाता है उस परम प्रेमरूपा भक्ति को पाने का यही लक्षण है, कि-मनुष्य पागलसा, निश्चेष्ट और आत्माराम अर्थात् संसार के विषयों में प्रीति छोड़कर ईश्वर में ही सदा रमण करता है। यद्यपि जीव ज्ञान की प्राप्ति से भी आत्माराम होसकता है, परन्तु वास्तविक आत्माराम प्रेमी भक्त ही है, क्योंकि-ज्ञानियों को भी भगवान् के गुणों से आकृष्ट होकर भगवान् में अहैतुकी भक्ति स्थापन करने की चेष्टा करनी पड़ती है। ज्ञान विना तरङ्गों के समुद्रकी समान है ज्ञानी प्रेमसागर में की तरंगों में आन्दोलित होने के लिये यत्न करते हैं, परन्तु प्रेमी भक्त को और कुछ यत्न नहीं करना पड़ता, वह सदा ही भगवान् की लीलारूपी तरंगों में स्नान करता हुआ उस में ही उन्मत्त, उस से अन्य विषयों में चेष्टारहित और उस में ही तृप्त रहकर आत्माराम शब्द को सार्थक करता है ॥ ६ ॥

द्वितीय अनुवाक ॥

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ७

सा परमप्रेमरूपा भक्तिः, कामयमाना मनस्कामनापूरणार्थं सकामा न यतो निरोधरूपा।

पदार्थ

(सा) वह भक्ति (निरोधरूपत्वात्) निरोधस्वरूप होने से (कामयमाना) किसी कामना को पूर्ण करने के लिये सकाम (न) नहीं है ॥

(भावार्थ)

प्रेम साध्यरूप साधना का फल है। श्रवण आदि प्रेम का साधन है। प्रेम श्रवण आदि साधन भक्ति के द्वारा साध्य होने पर भी प्रेमसाधनीभूता भक्ति को सकाम नहीं कहा जासकता, क्योंकि—सब प्रकार की फल कामनाओं का त्याग रूप निरोध साधन—भक्ति में प्रवेश करने का द्वार है। जब फलत्याग ही जिस में प्रवेश करने का द्वार है, फल को ईश्वरार्पण करना ही जिस का प्राण है तब वह कदापि सकाम नहीं होसकती। फल को पाने के उद्देश्य से किया हुवा कर्म ही सकाम होता है, यज्ञादि कर्म फल के उद्देश्य से किये जाते हैं, इसी से सकाम कर्म कहाते हैं। कामनाओं को पूरी करने के लिये भक्ति करना तो केवल वणिग्वृत्ति (लौकिक व्यापार) है। भगवान् ने नृसिंह मूर्त्ति में प्रकट होकर भक्त प्रल्हादजी से कहा था, कि—हे वेटा ! वर मांगो इस पर प्रल्हादजी ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया, कि—"यस्तु आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्,, अर्थात् हे प्रभो मैं व्यापारी नहीं हूँ मैं तो आप का भक्त हूँ, जो पुरुष आप

से सेवा के बदले में इस लोक वा परलोक का विषयसुख चाहता है वह आप का सेवक नहीं है, किन्तु लेन देन करने वाला व्यौपारी है। और यदि आप वर देना ही चाहते हैं तो यह कृपा कीजिये, कि—मेरे चित्त में राज्यभोग वा स्वर्गीय सुखभोग आदि किसी विषय की वासना उत्पन्न न हो। यही बात भगवान् ने कही भी है, कि—"न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते। भर्जिताः क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेष्यते॥ अर्थात् जिन्होंने अपनी बुद्धियें मुझ में ही लगादी हैं उन की इच्छा किसी विषयफल को नहीं चाहती, क्योंकि—भूने वा पकाये हुए धानों से अंकुर नहीं उग सकता। इस प्रकार जब कि—इन्द्रियों से भोग्य किसी भी ऐहिक वा पारलौकिक सुख को पाने की इच्छा से की हुई प्रीति को भी हम प्रेम नहीं कहसकते तब जो लोग स्वार्थवश किसी से प्रीति करके यह कहते हैं, कि—हम प्रेम करते हैं उन को लज्जित होना चाहिये, क्योंकि—वास्तव में प्रेम उसको ही कह सकते हैं जिस में कोई कामना न हो। इन्द्रिय मन और प्राण आदि के निरुद्ध अर्थात् वाणी व्यापार से हटे बिना वास्तविक प्रेम वा भक्ति का उदय नहीं होता। चित्त आदि की वृत्ति अपने २ स्थान में रुक जाने पर भोग की वासना उठती ही नहीं, इस निष्काम अवस्था में ही अन्तःकरण में भक्ति का प्रवाह विष्णुपादोदकी गंगा की समान प्रबल वेग के साथ बहने लगता है। अथवा भगवान की कृपा सद्गुरु की कृपा और [illegible] उन तीन डोरियों की वट लगजाने पर जीव

का संसार की ओर को बढ़ना बँधजाता है और भगवान् के भावसूत्र में निरुद्ध होजाता है। यह निरोध छः प्रकार का है अर्थात् परमात्मा में छः प्रकार की भावना करने से जीव का चित्त संसार की ओर से हटकर परमात्मा की ओर जाकर ठहरने लगता है। वह छः भावना वा निरोध यह हैं पहिला भीतिभावनिरोध अर्थात्—संसार की यन्त्रणा और वासनाओं से व्याकुल होकर भगवान् की शरण लेना, दूसरा स्वामिभाव-निरोध अर्थात्—भगवान् ही जगत् के प्रभु हैं, मैं उन का दास हूं, इस प्रकार भगवान् की शरण लेना। तीसरा सर्वभाव-निरोध अर्थात् छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जगत् के चेतन सब ही पदार्थ ईश्वर हैं, पिता, माता, भ्राता, पुत्र स्त्री, पुरुष, शत्रु, मित्र, सब ही ईश्वर हैं, ऐसा समझ कर सर्वत्र उन की ही झांकी करना। चौथा सख्यभाव—निरोध, अर्थात्—विपत्ति में सम्पत्ति में सुख में दुःख में सदा ही परमात्मा मेरे सहायक हैं, वह दीनबन्धु हैं, ऐसे सखाभाव से उन का अनुगामी होना। पांचवां वात्सल्यभाव-निरोध अर्थात् पुत्र की समान प्राणों की मूर्त्तिमान कर उन का आदर कर तन्मयता के साथ स्नेह करना और छठा कांतभाव—निरोध अर्थात् मेरे मन की प्रकृति नारी है और भगवान् पुरुष—पति हैं इस भाव से उन में मग्न होजाना। इन में से किसी एक निरोध के अधीन होजाने पर जीव की कामनायें आप ही रुकजाती हैं, और आप से आप हृदय में परमात्मा का आविर्भाव होता है, जो सर्वत्र से मन को हटा कर उन को भजेंगे उन

के सकल दुःख दूर होकर परमानन्द की प्राप्ति होगी ही यही बात भगवान् ने गीता में अर्जुन से कही है, कि-"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति। तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्यु-संसारसागरात् ॥,, अर्थात्-भगवान् कहते हैं कि-हे अर्जुन! निश्चय रक्खो, कि-मेरा भक्त नष्ट नहीं होता क्योंकि-अपने भक्तों का मृत्यु-संसार-सागर से उद्धार करने वाला मैं हूँ ७

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ८

लौकिकानां वैदिकानाञ्च व्यापाराणां कर्मणां, न्यासः त्यागः निरोध इत्युच्यते ॥

पादर्थ

(निरोधः-तु) निरोध तो (लोकवेदव्यापारन्यासः) लौकिक और वैदिक सकल व्यापारों का त्याग है ॥

(भावार्थ)

अन्तःकरण और इन्द्रियों की सकल वृत्तियों के बाहरी चेष्टा को त्याग देने पर अथवा ईश्वर की शरणागत होकर मनुष्य की अन्य चेष्टाएँ न रहने पर लौकिक व्यवहार वा वैदिक व्यवहार किसी कर्ममें भी भक्त की प्रवृत्ति नहीं होती भक्त निष्क्रिय और धर्म अधर्म के अनुष्ठान से रहित होता है, इसी से कहते हैं, कि-आहार विहार आदि लौकिक कार्य और यज्ञ आदि वैदिक कार्य के त्याग को निरोध कहते हैं। यहां कर्म के त्याग से कर्मफल का त्याग समझना क्योंकि-सब प्रकार के कर्म का सर्वथा त्याग होना तो असम्भव है,

इस लिये फल की कामना रहित कर्मानुष्ठान का नाम ही निरोध है, वास्तविक ईश्वरभक्त का कोई कर्म स्वार्थ के लिये नहीं होता, किंतु परार्थ, भगवत्प्रसन्नतार्थ होता है, इसीसे भक्तके निष्काम कर्म को ही निरोध कहा जासकता है ॥ ८ ॥

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥ ९ ॥

तस्मिन् प्रेमसाधने, अनन्यता तन्मयता, तद्विरोधिषु विषयेषु, उदासीनता अप्रवृत्तिश्च निरोध इत्युच्यते ॥

पदार्थ

(तस्मिन्) तिस प्रेमसाधन में (अनन्यता) अनन्य भाव (च) और (तद्विरोधिषु) तिसके विरोधी विषयों में (उदासीनता) प्रवृत्ति न होना ॥

भावार्थ

निरोध शब्द का अर्थ केवल कर्मफल का त्याग ही नहीं है, किन्तु प्रेमसाधन में अनन्यता और प्रेम साधनके विरोधी विषयों में प्रवृत्त न होना भी है । क्यों कि—केवल कर्म फल के त्याग से प्रेम लाभ नहीं होसकता, किन्तु प्रेम को पाने के लिये कर्मफल के त्याग के साथ प्रेमसाधन में अनन्यता और उसके विरोधी विषयों में प्रवृत्ति रहित भी होना चाहिये। कर्मफल त्याग का अर्थ यह है, कि—कर्म का फल भगवान् को अर्पण करना, यह फलार्पण भी एक कर्म है और इस को आरोपासिद्धा भक्ति में गिनाजाता है। जो भक्ति न होकर

भी भक्ति के लिए एक प्रकार का फल उत्पन्न करके भक्ति के आकार में दीखने लगता है उस कर्म को ही आरोपसिद्धा भक्ति कहा है। ईश्वर को फल का अर्पण करना रूप कर्म स्वयं भक्ति न होकर भी भक्ति का फल जो चित्तशुद्धि उस को उत्पन्न करके भक्ति के आकार में दीखने लगता है, इसी से इस को आरोपसिद्धा भक्ति कहते हैं ॥ ६ ॥

अन्याश्रयाणान्त्यागोऽनन्यता १०

अन्येषां सकलानामाश्रयाणां त्यागोऽनन्यतेत्युच्यते ॥

पदार्थ

(अन्याश्रयाणाम्) अन्य आश्रयों का (त्यागः) त्याग (अनन्यता) अनन्यता है ॥

भावार्थ

केवल एकमात्र प्रेम-साधन श्रवण आदि साधन भक्ति का आश्रय लेकर उस से अन्य सकल आश्रयों को त्याग देना अनन्यता है, इस कारण अनन्यता शब्द का अर्थ है शरणागत होना ॥ १० ॥

लोकवेदेषु तदनुकूलाचरणंतद्विरोधिषूदासीनता ॥ ११ ॥

लोकेषु वेदेषु च तदनुकूलाचरणं प्रेमसाधनानुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनतेत्युच्यते ॥

पदार्थ

(लोकवेदेषु) लोक और वेद में (तदनुकूलाचरणम्)

प्रेमसाधन के अनुकूल आचरण करना (तद्विरोधिषु-उदासीनता) उस के विरोधियों में उदासीनता है ॥

भावार्थ

यदि प्रेम और उस के साधनों के प्रतिकूल जो राग द्वेष, अभिनिवेश आदि अनेकों अनर्थ हैं उन से उदासीन होना हो तो एक निष्ठा के साथ चिरकाल से प्रचलित लौकिक सद्व्यवहार और वेदविहित धर्मानुष्ठान रूप भगवद्भाव के अनुकूल आचरण करना होगा। विहित कर्म्मों का अनुष्ठान किये विना राग द्वेषादि से उदासीनता नहीं होसकती और विहित कर्म्मोंका अनुष्ठान निष्कामभाव और एकनिष्ठा रखते रहो तो भगवद्भावके प्रतिकूल कार्यमात्र में आप से आप अनास्था और उदासीनता होजायगी ॥ ११ ॥

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ १२ ॥

निश्चयस्य श्रद्धायाः दार्ढ्यात् दृढतायाः ऊर्ध्वं परम्, यदि केनाचित् शास्त्रमर्यादापालनं, शास्त्रोक्तकर्मानुष्ठानं, क्रियते, तत करोतु, नास्ति तत्र प्रत्यवायः, श्रद्धादार्ढ्यात्पूर्वन्तु शास्त्र विहितकर्मानुष्ठानमवश्यमेव कर्त्तव्यम् ।

पदार्थ

(निश्चयदार्ढ्यात्) निश्चयबुद्धि दृढ़ होनेसे (ऊर्ध्वम्) आगें (शास्त्ररक्षणम्) शास्त्रमर्यादा की रक्षा (भवतु) होय।

सकै तो लौकिक कर्मों का आचरण करै और यदि लौकिक कर्मानुष्ठान के विना ही शरीर धारण कर सकै तो वह उस को भी त्याग सकता है। कितने ही लोग शंका करते हैं, कि—जब खाना पीना आदि कर्म ही न छूटा तो जीवन में में कर्मत्याग ही क्या हुआ ? इस शंका को दूर करनेके लिये ही इस सूत्रकी रचना है। भोजनादि व्यवहार शरीररक्षा, मात्र के लिये है, भोजन त्याग का नाम कर्मत्याग नहीं है यदि ऐसा होता तब तो विष खाकर मरजाने से ही भोजन का त्याग होकर कार्यसिद्धि होजाती। इस कारण यहाँ कर्म कहने से सकाम पारलौकिक कर्म लेना,चाहिये जबतक वासना का क्षय न हो तबतक ही लौकिक और पारमार्थिक कर्म का अनुष्ठान करे और जब वासना का क्षय होजाय तब " को विधिः को निषेधः, उस के लिये कोई विधि निषेध नहीं है। भक्त बिल्वमङ्गलाचार्य ने तो भक्ति में तन्मय होकर यहाँ तक कह दिया. कि 'सन्ध्यावन्दनभद्रमस्तु भवते भो स्नान तुभ्यं नमः भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम्। यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तंसस्य कंसद्विषः, स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ॥ १४ ॥

तृतीयअनुवाक ॥

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नाना-मतभेदात् ॥ १५ ॥

यस्याः वृत्तेरुदये यत्करोपि यदश्नासि यज्जुहोपि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥„ इति भगवदुक्ताचारनतपरता तद्विस्मरणे च परममव्याकुलता भवेत् सा वृत्तिर्भक्तिरिति तु नारदस्याभिमतम् ॥ १६ ॥

पदार्थ

(नारदः तु) नारद तो (तदर्पिताखिलाचारता) अपने सकल कर्म भगवान् को अर्पण करने का स्वभाव (तद्विस्मरणे) उनके विस्मरण में (परमव्याकुलता) अत्यन्त व्याकुल होना (इति) ऐसा मानते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ

जिस वृत्ति का उदय होने से सब कर्म भगवान् में अर्पित हों और उनके विस्मरण में परम व्याकुलता हो वह वृत्ति ही भक्ति का स्वरूप है, परम प्रेम ही ऐसी वृत्ति है, समस्त कर्म भगवान् को अर्पण करना ही उसका साधन है। कर्म दो प्रकार के होते हैं—लौकिक और पारलौकिक। पारलौकिक में इतना करना चाहिये कि-तुम कुटुम्ब का पालन करो अतिथि-सेवा करो, याग यज्ञ करो, तपस्या आदि किसी भी कर्म का अनुष्ठान करो. उस को ईश्वरार्थ वा ईश्वरपूजनार्थ समझकर उसका फल ईश्वर को अर्पण करते हुए करो, उस समय जी खोलकर कहो. कि—प्रातरुत्थाय सायान्हं सायान्हात्प्रातरन्ततः। यत्करोमि जगन्नाथ तदेव तव पूजनम् ॥,. प्रातःकाल से उठकर सायंकाल पर्यन्त और सायंकाल से फिर प्रातःकाल पर्यन्त जो कुछ कार्य करता हूँ हे भगवन् ! वह सब आपका

पदार्थ

(यथा) जैसे (व्रजगोपिकानाम्) व्रज की गोपियों का [दृष्टान्त है] ॥ २१ ॥

भावार्थ

नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं, गोप और गोपियें उनकी स्वरूप शक्तियें हैं, राधिका प्रधान गोपी है और सब गोपियें राधिका का कायव्यूह हैं, गोपियों का प्रेम श्रीभगवान् की स्वरूपशक्ति की ह्लादिनी अंश की प्रधानतावाली शुद्ध सत्वरूप वृत्ति है । यह प्रेमरूपा वृत्ति गोपियों की स्वाभाविकी थी, अतएव गोपियों के सकल कर्म नित्य भगवान् को अर्पित होते थे, व्रजगोपिकाओं के सब ही कर्म भगवान् के लिये थे । जब रासमण्डल में भगवान् ने वंशी बजाकर गोपियों को बुलाया उस समय वह जिस प्रकार सब कर्मों को त्याग कर अनन्य मन से वंशी की ध्वनि की ओर ध्यान लगाए हुए वनमें को गईं, उस को पढ़ने से यही बात सिद्ध होती है कि भगवान् के विरहमें गोपियों का परम व्याकुल होना किसी से छुपा नहीं है, भगवान् के दर्शन विना क्षणभर का समय भी उन को सैंकड़ों युगसा मालूम होता था. भगवान् को विना देखे जिनको ऐसी व्याकुलता होती थी उन का विस्मरण होने पर व्याकुलता का तो कहना ही क्या ? प्रिय वस्तुका दर्शन होने पर उस का स्मरण ही प्रेमी का अवलम्बन होना है, दैवात यदि विस्मृति होजाय तो कैसी व्याकुलता होगी. इस बात को तो भुक्तभोगी ही

समझ सकते हैं, गोपियों की यह व्याकुलता भी स्वाभाविक थी, वास्तव में वृन्दावन-विहारिणी गोपियें प्रेम भक्ति की पराकाष्ठा दिखा गई हैं, तभी तो नारदजीने भक्ति के उदाहरण-सूत्रमें गोपियों का नाम लिया है, वास्तवमें प्रेममें मग्न हो कर जो मद्यप मतवाले की समान घर, संसार, ऐश्वर्य, मान, प्रतिष्ठा और लोकलज्जा आदि सबको त्याग कर उनकी ही परम भक्त थीं, उनकी महिमा को कौन कह सकता है? भगवान्ने स्वयं ही कहा है, कि- "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः। या मा भजन् दुर्जरगेहशृङ्खलां संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥" अर्थात् हे व्रजदेवियों! यदि मैं देवताओं की आयु धारण करूँ और वैसी अनेकों कल्पों की आयुसे तुममेंसे एक का भी प्रतिउपकार करना चाहूँ तो नहीं कर सकूँगा, क्योंकि-महादुर्जर घरकी जंजीरको तुम्हारे सिवाय कौन तोड़ सकता है? भगवान्ने उद्धवजी से भी कहा था, कि "ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः। या त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे ता विभर्म्यहम्॥ मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः। स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहोत्कण्ठविह्वलाः। धारयन्ति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन। प्रत्यागमनसंदेशैर्वल्लभ्यो मे मदात्मिकाः॥" अर्थात्-हे उद्धव! गोपियोंने अपना मन मुझमें ही अर्पण कर दिया है, मैं ही उनका प्राण हूँ, मेरे निमित्त उन्होंने अपने २ शारीरिक व्यवहार तकको त्याग दिया है, जिन्होंने मेरे लिये लौकिक व्यवहार और धर्मके विधि निषेध तकको तुच्छ कर

रक्खा है, उनकी रक्षा मैं ही करता हूं, गोपियें मुझे अपने परम प्यारोंसे भी प्यारा समझती हैं, मेरे दूर रहनेसे मुझे स्मरण करतीं हुई वह विरहकी परम पीड़ासे व्याकुल होकर अपने शरीर तककी सुध भूलजाती हैं, मेरे विना वह बड़े क्लेशसे प्राण धारण करतीं हैं, मेरे फिर लौटकर आनेके सन्देशे से ही वह प्राणों को धारण कररहीं हैं, मैं ही उन व्रजगोपियों का आतमा हूँ और वह मेरी हैं। ऐसी गोपियों के प्रेम की महिमा से श्रीमद्भागवत आदि धर्मग्रन्थों का अधिकतर भाग भूषित है, उस को भक्तजन उन ग्रन्थों में ही पढ़ें, प्रेमभक्ति के प्रचारक श्रीगौराङ्गदेवने भी अपने संन्यास निर्णयग्रन्थ में, गोपी तथा गोपों का विरहानुभव प्राप्त होने की अपनी उत्कण्ठा दिखाई है और गोपियों को प्रेममार्गका गुरु माना है, यथा—" यच्च दुःखं यशोदाया नंदादीनाञ्च गोकुले। गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥ गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनां। यत्सुखं समभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥ उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा। वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥.. इत्यादि गोप गोपियोंके प्रेमकी थाह कौन पासकता है?॥ २१॥

न तत्रापि माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः॥ २२॥

तत्रापि परमप्रेम्णि अपि माहात्म्यज्ञानस्य विस्मृतिरूपो' अपवादो नास्ति॥

पदार्थ

(तत्रापि) तिस दशामें भी (माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः) माहात्म्यज्ञान न होनेका अपवाद (न) नहीं है।

भावार्थ

अनेकोंका यह विश्वास है कि–गोपियों का भगवान्में प्रेम था, परन्तु वह भगवान्के माहात्म्यको नहीं जानती थीं अर्थात् श्री कृष्णको भगवत् दृष्टिसे नहीं देखती थीं, परन्तु जब गोपियों को यह कहते हुए सुनते हैं, कि–"मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम्,, "अस्त्येवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे, प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा,, "व्यक्तं भवान् व्रजभयार्त्तिहरोऽभिजातः,, "न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्,, तब हम कैसे विश्वास करलें, कि–गोपियें उनको भगवान् नहीं जानती थीं ॥ २२ ॥

तद्विहीनं जाराणामिव ॥ १३ ॥

तेन माहात्म्यज्ञानेन, विहीनं शून्यं प्रेम, जाराणामिव उपपतीनामिव न चिरं स्थायि भवति।

पदार्थ

(तद्विहीनम्) माहात्म्यज्ञानसे हीनं प्रेम (जाराणाम् इव) उपपतियों केसा [होता है]।

भावार्थ

जहाँ माहात्म्य का ज्ञान नहीं होता वहां की प्रीति जारों कीसी होती है। व्यभिचारिणी स्त्रियें जारों से प्रेम करती हैं,

परन्तु उनका वह प्रेम चिरकाल पर्यन्त नहीं रहसकता, क्यों कि–जार साधारण मनुष्य है, साधारण मनुष्य में कुछ माहात्म्य है यह भावना नहीं होती, अतः उसके ऊपर का प्रेम चिरकाल तक नहीं ठहरता। जिसमें प्रेम किया है, व्यभिचारिणी जब उसके माहात्म्य को भूलजाती है और जब दूसरा जार उससे महान् मालूम होने लगता है उसी समय पहिले जार में किया हुआ उसका प्रेम नष्ट होजाता है। भगवान् के साथ भक्तका ऐसा भाव नहीं होता, भक्त समझता है, कि–भगवान्से बड़ा कोई है ही नहीं, इसीसे भक्तके प्रेमको भगवान् के सिवाय और कोई पा ही नहीं सकता, भक्त का प्रेम चिरकाल रहता है, उस का नाश होता ही नहीं ॥२३॥

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम् २४

तस्मिन् जारप्रेम्णि, तत्सुखसुखित्वं तस्य जारस्य सुखेन सुखित्वं नास्ति, एव ॥

पदार्थ

(तस्मिन्) तिस जारप्रेममें (तत्सुखसुखित्वम्) प्रियतम के सुख से सुखी होना (न–एव) नहीं ही (अस्ति) है॥

(भावार्थ)

विशेष कर उपपति के प्रेम में तत्सुखसुखित्व देखने में नहीं आता, व्यभिचारिणी स्त्रियें काम के वशीभूत होकर अपना सुख साधन के लिये ही जार में प्रेमभाव दिखाती हैं, उन के इस प्रेममें उपपति के सुख में सुख नहीं होसकता

परन्तु भगवत्प्रेम ऐसा नहीं होता। आत्मकाम भगवान् में भी स्वार्थ नहीं है, और भगवत्प्रीतिमात्र की कामना वाले भक्त में भी और कोई स्वार्थ नहीं है, भक्त के प्रेम में ही भगवान् सुखी हैं और भगवत्प्रेममें ही भक्त सुखी है, ममतारहित शांत भक्त सकल प्राणियों में दयाभाव रखने में ही भगवत्प्रीति समझते हैं, और ममतायुक्त गौरव भावमय दासभक्त दास्यभाव में ही भगवत्प्रीति मानते हैं तथा ममतायुक्त अनुग्रह-भावमय वात्सल्य भक्त भगवान् की वात्सल्य सेवा में ही भगवत्प्रीति मानते हैं और ममतायुक्त अपने सुखके तात्पर्य से रहित सम्भोग तृष्णा वाले कान्ताभक्त कान्तसेवा में ही भगवत्प्रीति मानते हैं, सार यह है कि—भगवत्प्रीति में ही सब भक्तों की प्रीति है,। गोपियें भगवत्प्रेमिका थीं, कामुका नहीं थीं, वह भगवान् कृष्ण से प्रेम करतीं थीं, काम के वशीभत होकर इन्द्रियों को तृप्त करने के लिये उन को नहीं चाहती थीं। प्रेम और वस्तु है, काम और वस्तु है मेरे द्वारा दूसरा सुखी हो और दूसरे के द्वारा मैं सुखी होऊँ, ऐसे मनके वेग का नाम प्रेम है और दूसरे के द्वारा मुझे सुख मिले, इसका नाम काम है। गोपियें अपने मन प्राण पर्यन्त को भगवान् को सुखी करने की सामग्री समझतीं थीं, व्रजकी प्रेम लीला आश्चर्यमयी प्रेमलीला थी। गोलोक की गोप्यलीला मृत्युलोक में अभिनीत हुई थी ॥ २४ ॥

चतुर्थ अनुवाक ॥

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा २५

सा परमप्रेम रूपा भक्तिः तु, कर्मतो ज्ञानतो योगतोऽपि अधिकतरा श्रेष्ठतरा ॥

पदार्थ

(सा-तु) वह परमप्रेम रूपा भक्ति तो (कर्मज्ञानयोगेभ्यः अपि) कर्म, ज्ञान और योगसे भी(अधिकतरा)परम श्रेष्ठ है।

भावार्थ

भक्ति भगवान् की स्वरूपशक्ति की वृत्ति है। वृत्ति शब्द का अर्थ है क्रिया, स्वरूपशक्ति की क्रिया स्वरूपशक्ति की ही सम्पत्ति है, इस सम्पत्ति का सोता भगवती गङ्गा के प्रवाह की समान मृत्युलोक में भी वह रहा है, जैसे गंगा का प्रवाह भगीरथ के खात में ही वहता है, तैसे ही भक्ति का प्रवाह भी भक्तिसम्प्रदाय में ही वहता हुआ देखनेमें आता है, जो उसके अनुगामी बनकर भक्ति सम्पदा को चाहते हैं वह ही उसको पाते हैं। कर्मी, ज्ञानी और योगियों के सम्प्रदाय में भक्ति का लाभ नहीं होसकता, क्योंकि-भक्ति उन संप्रदायों की संपत्ति नहीं है। भक्तिरूपा संपत्ति तो कर्म-ज्ञान और योग आदि सब संपत्तियों में श्रेष्ठ है। कर्म का फल भुक्ति, ज्ञानका फल मुक्ति, और योगका फल सिद्धि है। मुक्ति, भुक्ति और सिद्धि की कामना वालों को शान्ति नहीं होती है, भक्तिका फल शांति है, और भक्त शांत होते हैं। भक्तिका फल तृप्ति है, भक्त तृप्त होते हैं। भक्ति का फल प्रीति है, भक्त प्रेमी होते हैं। अतएव भक्ति सब में श्रेष्ठ है॥ पाहिले कर्म दो प्रकार है- विहित और निषिद्ध, जगत् के अमंगलकारी इस लोक और

परलोक में अपने को व्याकुल करनेवाले पापरूप कर्म का नाम निषिद्ध-कर्म है। जगत् का और अपना मंगल करने वाले पुण्यरूप कर्म का नाम विहितकर्म है। निषिद्धकर्म को करने से मृत्यु होनेपर प्रेतदशा के अनन्तर नरकगति होती है, प्रेतलोकके नीचेका प्रांत ही नरकलोक है समुद्रके वक्षःस्थलसे चन्द्रलोक पर्यन्त ऊपर २ स्थित होनेके अनन्तर २ के सूक्ष्म द्वीप नामक भूतलके कोप ही प्रेतलोक हैं, प्रेत शब्द का अर्थ है मृत। निषिद्ध-कर्म करनेवाले को नरकभोगके अंतमें फिर पृथिवी पर आकर कर्मानुसार शरीर धारण करना पड़ता है निषिद्ध-शारीरिककर्मसे स्थावरशरीर निषिद्ध वाचिक कर्मसे पक्षी आदिका तिर्यक्शरीर और निषिद्ध-मानसकर्म से नीचजाति का मानव देह मिलता है। विहित कर्म भी दो प्रकार का है—एक सकाम और दूसरा निष्काम। फल की कामनावाले कर्मका नाम सकाम कर्म है। सकाम कर्म भी तीन प्रकार का है—सात्त्विक, राजस और तामस। तामस विहित कर्म करने वाले की प्रेतदशा के अनन्तर विल-स्वर्गमें गति होती है। भूगर्भमें पातालपुरी विलस्वर्ग है। राजसविहित कर्म करनेवाले की भुवर्लोकमें गति होती है। चन्द्रमंडलसे सूर्यमण्डल पर्यन्त जगत् ही भुवर्लोक है। सात्विकविहित कर्म करने वाले की प्रेतत्वके अनन्तर स्वर्गमें गति होती है सौरजगत् से आगे समस्त प्राकृत लोकों का साधारण नाम स्वर्ग है। स्वर्गभोगके अनंतर फिर पृथिवी पर आकर कर्मानुरूप स्थान प्राप्त होता है। सात्विक

कर्माधिकारी का कर्मभूमि भारतवर्षमें और सकाम कर्माधिकारीका भोगभूमि अन्यवर्षों में जन्म होता है, भारतवर्ष से अन्य वर्षोंका साधारण नाम भौम स्वर्ग है। स्वर्ग से च्युत हुए जीवों का वासस्थान होने से ही भौमस्वर्ग कहा जा सकता है। स्वर्ग के चार भाग हैं—गृही का स्वर्ग इन्द्रलोक, ब्रह्मचारी का स्वर्ग महर्लोक और जनलोक, वानप्रस्थ का स्वर्ग तपोलोक, सन्यासी का स्वर्ग ब्रह्मलोक वा सत्यलोक से प्रकृति के आवरण तक। सत्यलोकसे परे क्षिति आदि आवरणों का नाम भुवनकोष है। पूर्वोक्त तामस आदि तीन प्रकारके विहित कर्मोंका आचरण करने वालोंका ही भोगके अन्तमें इस लोकमें फिर आना शास्त्रोंमें सुना जाता है। उनमें तामसविहिताचारी तामस ज्ञान वा तामसभक्ति के अधिकारी होते हैं, राजसविहिताचारी राजस ज्ञान वा राजसभक्तिके अधिकारी होते हैं, और सात्विक विहिताचारी सात्विक ज्ञान वा सात्विक भक्तिका अधिकार पाते हैं। मोह से उत्पन्न ज्ञान वा भक्ति तामस है, विषयसे उत्पन्न ज्ञान वा भक्ति राजस है, और आत्मा से उत्पन्न हुआ ज्ञान वा भक्ति सात्विक है। सात्विकज्ञान और सात्विकभक्तिके अधिकारी की निष्काम कर्ममें प्रवृत्ति होती है। सात्विकज्ञानी निष्काम कर्म वा कर्मयोगके द्वारा चित्तशुद्धिके अनंतर मोक्षफल को पाते हैं। मुक्तको कर्म का बन्धन नहीं है। सात्विक भक्त निष्काम कर्म वा भक्तियोग के द्वारा चित्तशुद्धि के अनन्तर भगवत्प्रेम रूप संपदा को पाते हैं, भगवत्प्रेमी को

कर्म बन्धन नहीं है। मुक्त और भक्त दोनों ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण इस तीन प्रकारके जीवकोपसे मुक्त होकर प्रकृति के परलेपार चले जाते हैं, इन दोनों को फिर कर्म सूत्रमें नहीं बंधना पड़ता। मुक्त और भक्त दोनों को ही कर्म सूत्र जीव कोपमें बंधकर इस लोकमें नहीं आना पड़ता है मुक्त पुरुष अपने अस्तित्व को परब्रह्मके अस्तित्व में मिला कर शान्त होते हैं और भक्त अपने को भजनीय भगवान् के अधीन करके भजनीय परम पुरुषको आत्मसमर्पण करके शांतिसुखको भोगते हैं। सिद्धशरीरको न ग्रहण करनेवाले मुक्त, निष्क्रिय, अवस्थामें विलीन होजाते हैं। सिद्धशरीर को प्राप्त हुआ भक्त अनन्त कालतक श्रीभगवान् की सेवा में तत्पर रहता है, भक्तका कर्म बन्धन न होने पर भी उन का कर्मप्रवाह विच्छिन्न नहीं होता है वह भगवत्कर्म के सहकारी होते हैं॥ छ॥ स्वरूपानुभवका साधनभूत ज्ञान तीन प्रकार का है—ब्रह्मज्ञान परमात्मज्ञान और भगवद्ज्ञान। " सोऽहम् „ मैं ब्रह्म हूँ, इस ज्ञान का नाम ब्रह्मज्ञान है। मैं जीवात्मा अन्तर्यामी परमात्मा का अंश हूँ, यह परमात्मज्ञान है। मैं शक्ति हूँ, शक्तिमान् परमेश्वरकी शक्ति का अंश हूँ इस ज्ञान का नाम भगवद्ज्ञान है। ब्रह्मज्ञान का फल ब्रह्मसायुज्य वा सद्योमुक्ति और परमात्मज्ञान का फल परमात्म-सायुज्य वा क्रममुक्ति है।

योग शब्दसे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, और अष्टांग-योग यह चार योग लिये जाते हैं। कर्मयोग निष्काम कर्म

का नाम है। कर्मयोगके फल में स्वतन्त्रता नहीं है, वह ज्ञानका अङ्गीभूत होकर चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान के फल मोक्षको और भक्ति का अङ्गीभूत होकर चित्तशुद्धि के द्वारा भक्तिके फलको उत्पन्न करता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ के समूह का नाम अष्टांग-योग है। कर्मयोगकी समान अष्टांगयोग का फल भी स्वतन्त्र नहीं है। यह भी ज्ञान का अङ्गीभूत होकर चित्तकी एकाग्रताके द्वारा ज्ञान के फल मोक्षको और भक्तिका अङ्गीभूत होकर भक्तिके फल प्रेमको उत्पन्न करता है॥

भक्ति भी तीन प्रकारकी है गुणीभूता, प्रधानीभूता, और केवला। कर्म, ज्ञान वा योग ही जिसका प्रधान अंग है और किसी फल की प्राप्ति के लिये भक्ति केवल जिसका आनुपांगिक अंग है, उसका ही नाम गुणीभूता भक्ति है गुणीभूता का दूसरा नामसकाम भक्ति है, इसका फल सिद्धि और भुक्ति है। कामना वाले और आर्त्त पुरुष इसके अधिकारी हैं। भक्ति जिसका प्रधान अंग है और कर्म ज्ञान वा योग जिसके सहायकमात्र हैं उसका नाम प्रधानीभूता भक्ति है। प्रधानीभूता भक्ति का दूसरा नाम मिश्रा, निष्कामा वा सात्विकी भक्ति है. यह भक्ति फिर तीन प्रकारकी है, कर्ममिश्रा, ज्ञानमिश्रा और योगमिश्रा मुमुक्षु पुरुष ही सबका अधिकारी है। कर्ममिश्रा भक्ति का फल ज्ञानमिश्रा भक्ति वा ज्ञानयोग और योगमिश्रा भक्ति वा अष्टांगयोग है। ज्ञानयोग का फल सद्योमुक्ति है। अष्टांगयोगका

फल क्रममुक्ति है। कर्ममिश्रा भक्तिका दूसरा नाम आरोपसिद्धा भक्ति है। कर्ममिश्राभक्ति के अङ्गरूप निष्काम कर्म, भक्ति का कार्य जो चित्तशुद्धि तिसके द्वारा भक्तित्वका आरोप होने पर भक्तिरूप सिद्ध होते हैं अर्थात् भक्ति न होकर भी कुछ एक भक्तिके आकारवाले प्रतीत होते हैं इससे आरोपसिद्धा भक्ति कहेजाते हैं। ज्ञानमिश्रा और योगमिश्रा भक्तिका दूसरा नाम संगासिद्धाभक्ति है। ज्ञानमिश्राभक्तिकी अंगभूत सात्विक क्रियाएं भक्तिके साथ होकर भक्ति का फल जो ब्रह्म साक्षात्कार और परमात्मसाक्षात्कार तिसके द्वारा भक्तिके किसी अंशके आकारमें प्रतीत होने लगती हैं इसी कारण उसको संगासिद्धा भक्ति कहते हैं। केवलाभक्ति इनसे सर्वथा भिन्न है। केवला भक्तिका दूसरा नाम निर्गुणा वा स्वरूपसिद्धा भक्ति है। कर्म ज्ञानादि इसके अधीन हैं यह कर्म ज्ञानादि के अधीन नहीं है, किन्तु सर्वथा स्वाधीन है। यह स्वाधीनभाव से ही कर्म का फल जो चित्तशुद्धि एवं ज्ञान और योगका फल जो मोक्ष इन सबोंके साथ अपने फल भगवत्प्रेम और उसके साक्षात्कार आदिको देती है, इस कारण भक्ति सब से श्रेठ है ॥ २५ ॥

फलरूपत्वात् ॥ २६ ॥

फलरूपा अस्ति अतोऽपि श्रेष्ठा।

पदार्थ

(फलरूपत्वात्) फलरूप होनेसे [श्रेष्ठा] श्रेष्ठ है ॥

भावार्थ

भक्ति स्वयं फलरूप है, इस कारण सब से श्रेष्ठ है। ज्ञानाभिमानी कहते हैं कि-भक्ति साधन है और ज्ञानरूप उसका फल है, सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि-भगवद्गीतामें लिखा है, कि "अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ इसमें भगवान् ने दिखाया है, कि-ज्ञान, कर्म और योगरूप साधनसे मनुष्य अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोधको त्यागकर निर्मल, शान्त, ब्रह्मात्मज्ञानयुक्त, परमानन्दपूर्ण होकर शोक, कामना आदि से रहित और सब प्राणियोंमें समदर्शी होजाता है तब भगवान् की पराभक्तिको पाता है, सब साधनों का एक यही फल है, कि-भगवान् की कृपादृष्टि बिना हुए भक्ति सिद्ध नहीं होती,इसकारण भक्ति सब साधनोंका फलरूप होने से सर्वश्रेष्ठ है ॥ २६ ॥

ईश्वरस्याप्यभिमानिद्वेषित्वा-दैन्यप्रियत्वाच्च ॥ २७ ॥

ईश्वरोऽपि अभिमानिद्वेष्टा दैन्यप्रियः अतोऽपि भक्तेः श्रेष्ठत्वम् ॥

पदार्थ

(ईश्वरस्य-अपि) ईश्वरके भी (अभिमानिद्वेषित्वात्)

अभिमानी का द्वेषी होनेसे (च) और (दैन्यप्रियत्वात्) दीनता का प्रिय होनेसे॥

भावार्थ

कर्म, योग और ज्ञान के साधन कालमें साधक के चित्त में उन साधनों का अभिमान होने पर उस अभिमानी से परमेश्वर प्रसन्न नहीं होते। भगवान् तो एक मात्र दीनों के बन्धु, पतितों के उद्धारकर्ता और निर्धनों के सर्वस्वधन हैं, वह अभिमानी के कोई नहीं हैं, ठीक ही है, जिनको अपने साधनों का भरोसा है उनको वह क्यों बूझैंगे? जो स्त्री अपनी सुन्दरता और जारोंके द्वारा धनोपार्जन करती है उसको पति क्यों बूझैगा? जो बालक आप अपनी जीविका कर लेनेका अभिमानी है उसकी ओर माता पिता का ध्यान क्यों होगा? जो सेवक अपना निर्वाह आप ही करलेने का अभिमानी है उसके स्वामी को क्या चिंता? विशेषकर परमेश्वर से स्वामी को कि-जिसको सदा दीन ही प्यारे हैं, उसके सामने तो जब सब साधनों को छोड़ अनन्यभाव से कहोगे, कि-"सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वथा। पापापीनस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम"॥ अर्थात् हे कृष्ण! मैं सर्वसाधनों से हीन सर्वथा पराधीन हूँ पापों से पिचाहुआ और परमदीन हूँ हे नाथ! अब तो मेरी गति आप ही हैं तब ही वह तुम्हारी ओर ध्यान देंगे क्योंकि-उनकी विरद है कि-तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। अर्थात् अपने शरणागतों को मैं भवसागरसे उबारता हूँ इसकारण जो दीन-

भाव रखते हैं वही भगवान्के प्रीतिपात्र हैं। मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं सिद्ध हूँ, ऐसा समझनाही अहंकार का परिचय देता है, उनको फिर परमेश्वर को भी मानने की आवश्यकता नहीं दीखती और वह परमेश्वर को मान भी नहीं सकते, इस कारण वह अवश्य ही उनके द्वेषी हैं, जो परमेश्वर के विद्वेषी हैं वह उनके प्रियपात्र कभी नहीं होसकते किन्तु उलटे वह असुरोंमें ही गिनेजाते हैं। जो असुर स्वभावके होते हैं उनके हृदयमें ही वैसे अभिमान का उदय होता है, जबतक यह अहंकार विनष्ट नहीं होगा तबतक दैवस्वभाव का उदय न होने से परमेश्वर का प्रीतिपात्र नहीं होसकता, दैन्यबुद्धिका उदय होने पर ही अहंकार का विलय होता है। अन्य साधनों की अपेक्षा न करके केवल परमेश्वर की कृपा को ही आत्मसमर्पण किये विना इस दैन्य-बुद्धिका उदय नहीं होता, निरपेक्षभाव सहित शरणागति ही अहङ्कार को नष्ट करती है वह ही शुद्धाभक्ति की एक अवस्था है, अतएव शुद्धाभक्ति सबसे श्रेष्ठ है ॥

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके २८

तस्याः भक्तेः ज्ञानमेव साधनं, इति एके केचित् वदन्ति।

पदार्थ

(तस्याः) तिसका (साधनम्) साधन (ज्ञानम्-एव) ज्ञान ही है (इति) ऐसा (एके) कोई कहते हैं।

भावार्थ

किन्हीं के मत में ज्ञान ही भक्ति का साधन है परन्तु

ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि-गृध्र गजेन्द्र आदि को कौन ज्ञान सिखाने आया था ? उन्होंने केवल भक्तिके साथ भगवान् को पुकारा ही था, इसी से भगवान् का साक्षात् दर्शन पागए, भगवान्ने कहा भी है-"केवले न हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः। येन्यं मूढधियो नागा सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ २८ ॥

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

अन्योन्याश्रयत्वं ज्ञानभक्त्यो परस्पराश्रयत्वम्, इति अन्ये केचित् वदन्ति ॥

पदार्थ

(अन्योन्याश्रयत्वम्) परस्पराश्रयपना है (इति) ऐसा (अन्ये) दूसरे कहते हैं ॥

भावार्थ

दूसरे कोई २ कहते हैं कि-ज्ञान भक्ति के आश्रय और भक्ति ज्ञान के आश्रय है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि-भक्ति का उदय होजाने पर ज्ञानतत्त्व की जिज्ञासा का उदय ही नहीं होता ॥ २६ ॥

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ३०

स्वयं स्वया एव फलरूपता इति सनत्कुमारनारदादयो ब्रह्मकुमारा मन्वते।

पदार्थ

(स्वयम्) आप (फलरूपता) फलरूपपना (इति) ऐसा (ब्रह्मकुमाराः) ब्रह्मकुमार मानते हैं ॥

भाव रखते हैं वही भगवान्के प्रीतिपात्र हैं । मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं सिद्ध हूँ, ऐसा समझनाही अहंकार का परिचय देता है, उनको फिर परमेश्वर को भी मानने की आवश्यकता नहीं दीखती और वह परमेश्वर को मान भी नहीं सकते, इस कारण वह अवश्य ही उनके द्वेषी हैं, जो परमेश्वर के विद्वेषी हैं वह उनके प्रियपात्र कभी नहीं होसकते किन्तु उलटे वह असुरोंमें ही गिनेजाते हैं । जो असुर स्वभावके होते हैं उनके हृदयमें ही वैसे अभिमान का उदय होता है, जबतक यह अहंकार विनष्ट नहीं होगा तबतक देवस्वभाव का उदय न होने से परमेश्वर का प्रीतिपात्र नहीं होसकता, दैन्यबुद्धिका उदय होने पर ही अहंकार का विलय होता है । अन्य साधनों की अपेक्षा न करके केवल परमेश्वर की कृपा को ही आत्मसमर्पण किये विना इस दैन्य-बुद्धिका उदय नहीं होता, निरपेक्षभाव सहित शरणागति ही अहङ्कार को नष्ट करती है वह ही शुद्धाभक्ति की एक अवस्था है, अतएव शुद्धाभक्ति सबसे श्रेष्ठ है ॥

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके २८

तस्याः भक्तेः ज्ञानमेव साधनं, इति एके केचित् वदन्ति ।

पदार्थ

(तस्याः) तिसका (साधनम्) साधन (ज्ञानम्–एव) ज्ञान ही है (इति) ऐसा (एके) कोई कहते हैं ।

भावार्थ

किन्हीं के मत में ज्ञान ही भक्ति का साधन है परन्तु

ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि—गृध्र गजेन्द्र आदि को कौन ज्ञान सिखाने आया था ? उन्होंने केवल भक्तिके साथ भगवान् को पुकारा ही था, इसी से भगवान् का साक्षात् दर्शन पागए, भगवान्‌ने कहा भी है—"केवले न हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्यं मूढधियो नागा सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ २८ ॥

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

अन्योन्याश्रयत्वं ज्ञानभक्त्यो परस्पराश्रयत्वम्, इति अन्ये केचित् वदान्ति ॥

पदार्थ

(अन्योन्याश्रयत्वम्) परस्पराश्रयपना है (इति) ऐसा (अन्ये) दूसरे कहते हैं ॥

भावार्थ

दूसरे कोई २ कहते हैं कि—ज्ञान भक्ति के आश्रय और भक्ति ज्ञान के आश्रय है, सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि—भक्ति का उदय होजाने पर ज्ञानतत्त्व की जिज्ञासा का उदय ही नहीं होता ॥ २६ ॥

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः ३०

स्वयं स्वस्या एव फलरूपता इति सनत्कुमारनारदादयो ब्रह्मकुमारा मन्वते ।

पदार्थ

(स्वयम्) आप (फलरूपता) फलरूपपना (इति) ऐसा (ब्रह्मकुमाराः) ब्रह्मकुमार मानते हैं ॥

भाव रखते हैं वही भगवान्के प्रीतिपात्र हैं। मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं सिद्ध हूँ, ऐसा समझनाही अहंकार का परिचय देता है, उनको फिर परमेश्वर को भी मानने की आवश्यकता नहीं दीखती और वह परमेश्वर को मान भी नहीं सकते, इस कारण वह अवश्य ही उनके द्वेषी हैं, जो परमेश्वर के विद्वेषी हैं वह उनके प्रियपात्र कभी नहीं होसकते किन्तु उलटे वह असुरोंमें ही गिनेजाते हैं। जो असुर स्वभावके होते हैं उनके हृदयमें ही वैसे अभिमान का उदय होता है, जबतक यह अहंकार विनष्ट नहीं होगा तबतक देवस्वभाव का उदय न होने से परमेश्वर का प्रीतिपात्र नहीं होसकता, दैन्यबुद्धिका उदय होने पर ही अहंकार का विलय होता है। अन्य साधनों की अपेक्षा न करके केवल परमेश्वर की कृपा को ही आत्मसमर्पण किये विना इस दैन्य-बुद्धि का उदय नहीं होता, निरपेक्षभाव सहित शरणागति ही अहङ्कार को नष्ट करती है वह ही शुद्धाभक्ति की एक अवस्था है, अतएव शुद्धाभक्ति सबसे श्रेष्ठ है॥

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके २८

तस्याः भक्तेः ज्ञानमेव साधनं, इति एके केचित् वदन्ति।

पदार्थ

(तस्याः) तिसका (साधनम्) साधन (ज्ञानम्-एव) ज्ञान ही है (इति) ऐसा (एके) कोई कहते हैं।

भावार्थ

किन्हीं के मत में ज्ञान ही भक्ति का साधन है परन्तु

भावार्थ

सनत्कुमारादि और नारदजी मत है, कि—भक्ति स्वयं ही फल है और स्वयं ही उस फलका साधन है। नित्य सिद्ध भगवान् के प्रेमरूप भक्तिका कोई साधन है ही नहीं, श्रवणादिसे शुद्ध हुए चित्तमें उसका उदय आप ही होजाता है। श्रवण आदि भक्ति के अङ्ग ही क्रमसे परिपक्व होकर भावरूपमें और भाव अपनी गाढ़तामें प्रेमरूपसे प्रकाशित होता है।

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१ ॥

राज्ञां नृपतीनां गृहेषु भवनेषु च भोजनादिव्यापारेषु च तथैव दृष्टत्वात्।

पदार्थ

(राजगृहभोजनादिषु) राजद्वार और भोजन आदि में (तथैव) तैसा ही (दृष्टत्वात्) देखा है इसकारण।

भावार्थ

राजद्वार (राजदरबार) और भोजनादिमें ऐसा ही देखा है, जिसको अगले सूत्रमें उदाहरण देकर दिखाते हैं॥ ३१ ॥

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ३२

तेन बोधमात्रेण राजपरितोषः भूपतेः तुष्टिः क्षुधाशान्तिः बुभुक्षानिवृत्तिः न भवति।

पदार्थ

(तेन) ज्ञान से (राजपरितोषः) राजाकी प्रसन्नता (वा) या (क्षुधाशान्तिः) भूखकी शांति (न) नहीं होती ॥

भावार्थ

भक्ति ज्ञान का फलरूप नहीं है, इस बातको दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं, कि–मान लो, तुमने जानलिया कि–राजा धनवान्, सौम्य, दयालु, धर्मात्मा और प्रजा को प्रसन्न रखने वाला है तो क्या तुम्हारे इतने जानलेने मात्र से राजा सन्तुष्ट होजायगा अर्थात् तुमको राजज्ञान होजाने से राजाकी तृप्ति नहीं होसकती तथा घी शर्करा आदि से मिष्टान्न बनता है इस बातको केवल जानलेने से ही क्या तुम्हारी भूख दूर होजायगी ? कदापि नहीं होगी। ऐसे ही केवल भगवान् के स्वरूपको जानलेने मात्र से जीवका कर्त्तव्य सिद्ध नहीं होता इसी से अगले सूत्रमें फिर कहते हैं कि ॥ ३२ ॥

तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ३३

तस्मात्कारणात् मुमुक्षुभिः मोक्षाभिलाषिभिः, सैव भक्तिरेव ग्राह्या स्वीकार्या।

पदार्थ

(तस्मात्) तिससे (मुमुक्षुभिः) मुमुक्षुओं करके (सा एव) वह ही (ग्राह्या) ग्रहण करने योग्य है। ॥ ३३ ॥

भावार्थ

इसकारण सकल प्रकार की उपाधियों से मुक्ति चाहने

वालोंको इस भक्ति का ही आश्रय करना चाहिये । तात्पर्य यह है, कि-सूत्रकारने अनेकों प्रकार का विचार करके सिद्धांत करा है-कि कर्म, योग और ज्ञान मुक्तिके साधन है तो भी उन में अनेकों विघ्न होना सम्भव है मुक्ति पानेके लिये-भगवान्‌का दर्शन करने के लिये भक्ति ही निर्मल-मार्ग है, इसी से जीवोंके ऊपर करुणा करके उन्होंने भक्ति साधन में प्रवृत्ति दी है । मुक्ति भक्तिका मुख्य फल नहीं है, किन्तु भक्ति साधना के मार्गमें को बढ़ने पर मार्गमें मुक्ति आप आपहुँती है मुक्ति पाजाने के अनन्तर भी भक्ति का मार्ग दूर तक फैला हुआ है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार की उपाधि से मुक्ति पानेके लिये मुमुक्षुको पृथक् साधन नहीं करना पड़ता है, भक्ति ही समस्त परमार्थ को देदेती है॥३३॥

पञ्चम-अनुवाक ।

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ३४

आचार्याः शाण्डिल्यादयः, तस्याः भक्तेः साधनानि गायन्ति कीर्त्तयन्ति ।

पदार्थ

(आचार्याः) आचार्य (तस्याः) उस भक्ति के (साधनानि) साधनों को (गायन्ति) कीर्तन करते हैं ॥

भावार्थ

यद्यपि प्रेम नित्यसिद्ध है.उसका कोई कारण नहीं है तथापि प्रेम भक्तिके पानेके उपाय-स्वरूप कुछ साधन आचार्यों ने कहे हैं ॥ ३४ ॥

तत्तु प्रेम तु विषयत्यागात

तत्सङ्गत्यागाच्च॥ ३५॥

तत् प्रेम तु विषयत्यागात् तत्सङ्गत्यागाच्च प्राप्यते।

पदार्थ

(तत्-तु) वह प्रेम तो (विषयत्यागात्) विषय के त्यागसे (च) और (सङ्गत्यागात्) सङ्गके त्यागसे ॥ ३५ ॥

भावार्थ

विषयत्याग का अर्थ है—विषयभोगत्याग और विषयसङ्गत्याग का अर्थ है-विषयासक्ति को त्यागना विषयोंकी खिचावट बड़ी ही प्रबल है, विषयों को त्यागना बड़ा ही कठिन है, किसी प्रकार विषय छूट भी जायँ तो विषयों का संग नहीं छूटता। यम नियम आदिके अभ्यास और वैराग्यके द्वारा धीरे२ विषय और विषयों के संगका त्याग किया जासकता है, परन्तु विषय और विषयों के सङ्गको छोड़ने का एक सहज उपाय भगवान्में भक्ति करना है। ऐसा करने से ही विषयों से वैराग्य और निःसङ्गता होकर परमप्रेमरूपा भक्ति सिद्ध होती है ॥ ३५॥

अव्यावृत भजनात् ॥ ३६ ॥

अव्यावृतभजनात् निरन्तरभजनात् विषयतत्सङ्गत्याग-पूर्वकं प्रेम लभ्यते।

पदार्थ

(अव्यावृतभजनात्) निरन्तर भजन करने से ॥ ३६ ॥

भावार्थ

निरन्तर भगवान् का भजन अर्थात् भगवान् के गुण नाम आदिका श्रवण,कीर्त्तन और स्मरण करना चाहिये, क्योंकि-भजन से अवकाश पाते ही मन रजोगुण और तमोगुण में को घुसने लगता है। उस समय विषयचिन्ता मनको भुला देती है, इसलिये निरंतर भजन करे, निरन्तर भजन करने से उसमें वृत्ति जमजाती है, तब आप ही विषय और उनका संग छूटकर इंद्रियों सहित मन भगवान् के चरणों में जा लगता है और चित्त शुद्ध होजाता है उस शुद्ध चित्तमें ही क्रमसे प्रेमका आविर्भाव होता है इसीसे श्रीवल्लभाचार्यजीने कहा है-"तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम। वदद्भिरेव सततं स्थातव्य-मिति मे मतिः।,,अर्थात् इस कारण नित्य निरन्तर श्रीकृष्णःशरणं मम, कहा करे ऐसा मेरा मत है । आपने भक्तिवर्द्धिनी ग्रन्थमें भी कहा है कि-"अव्यावृतो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः।,, श्रवण कीर्त्तनादि पूजा के द्वारा भगवान् कृष्ण का निरन्तर भजन करे. ऐसा न समझे कि-जैसे नित्य भोजनादि करते हैं ऐसे ही थोड़ी देर को यह भी सही, किन्तु इसको निरंतर करो। इसका यह भाव नहीं है, कि—शरीरयात्रा के व्यवहारों को छोड़ दो, किन्तु निर्वाह के लौकिक व्यवहार करते हुए जब उनमे अवसर पाओ तब और कोई व्यर्थ काम न करके भगवान् का स्मरण करो, क्योंकि-निरन्तर भगवत्स्मरण से चित्तशुद्धि होकर भक्ति प्रकट होती है, तभी तो श्रीकृष्णचैतन्यदेव ने कहा है, कि-" चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं

श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् । आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं, सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनम् ॥ „ जो मनोरूप दर्पण की मलिनता को दूर करता है, जो संसाररूप भयानक दावानल को बुझाता है, जो परममंगल रूप कुमुद को खिलाने के लिए चांदनी देता है जो विद्यावधू को जीवनदान देता है जो सुखसमुद्र को बढ़ाता है, जो पद २ पर पूर्ण अमृत कैसा स्वाद देता है और जो आत्मा को प्रेमसागर में स्नान कराता है वह श्रीकृष्णकीर्त्तन सर्वोत्कर्ष से विराजमान है ३६

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवण-कीर्त्तनात् ॥ ३७ ॥

भगवतो गुणानां श्रवणकीर्त्तनादिभ्यः चित्तशुद्धौ प्रेमप्राप्तिः लोकेऽपि दृश्यते ।

पदार्थ

(लोके अपि) लोक में भी (भगवद्गुणश्रवणकीर्त्तनात्) भगवान् के गुणों का श्रवण और कीर्त्तन करने से ॥

भावार्थ

जबतक निरन्तर भगवद्भजन करने की सामर्थ्य न होजाय तबतक अवकाश मिलने पर लोकों के समीप भगवान् की कथा का श्रवण और कीर्त्तन करै, क्यों कि—इस कलिकाल में भगवन्नाम कीर्त्तन मुख्यधर्म है, इस युग में नाम संकीर्त्तन से ही पुरुषार्थसिद्धि होसकती है, इसीसे भगवान् ने कृपा करके नाम में अनेकों प्रकार से अपनी शक्तियों को

सिंचन करदिया है, इसी कारण भगवान् की कथा का श्रवण कीर्त्तन करते करते चित्त क्रम से भगवान् की ओरको खिंचने लगता है, श्रीचैतन्यदेवजी लिखते हैं, कि–व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत सदा। ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनञ्च यदा भवेत्।,, अर्थात् यदि चित्त भक्ति में न रंगा हो तो हरिकथा के श्रवण आदि में लगावै तो धीरे२ उसमें आसक्ति बढ़ैगी अर्थात् श्रवण कीर्त्तन का व्यसन पड़जायगा और भक्ति का बीज आप ही दृढ़ होजायगा, सब लोग भक्तिके अधिकारी नहीं होते, परन्तु श्रवण कीर्त्तन करने से सब होजाते हैं और श्रवण कीर्त्तन के अधिकारी मुक्त, मुमुक्षु और विषयी तीनों हैं यही बात श्रीमद्भागवत के आरम्भ में कही है " निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात्। क उत्तमश्लोक गुणानुवादात्पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्,, ॥ ३७ ॥

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ ३८ ॥

मुख्यरूपेण तु महत्कृपया महात्मनामनुग्रहेणैव अथवा भगवतो कृपालेशतः प्रेम लभ्यते॥

पदार्थ

(मुख्यतः–तु) मुख्यरूप से तो (महत्कृपया-एव) महात्माओं की कृपा से ही (वा) अथवा (भगवत्कृपालेशात्) भगवान की कृपाके लवसे ।

भावार्थ

यद्यपि पूर्वोक्त साधनों से भक्ति का आविर्भाव होता है,

परन्तु महात्माओंकी कृपा वा श्रीभगवान् की कृपा का लेश प्रेमको पानेका मुख्य उपाय है। यहाँ महत् शब्दका अर्थ मध्यम भक्त है, क्योंकि सकल प्राणियों में समदृष्टि रखने वाले उत्तम भक्तोंकी कृपामें तो विषमता होती ही नहीं और अभक्तोंके ऊपर कृपा करना मध्यम भक्तका गुण है। भगवान् की कृपा भक्तकी कृपा के पीछे पीछे चलती है, जिसके ऊपर भक्त की कृपा होती है, उसके ऊपर भगवान् भी दया करते हैं, भगवान् की दया होने पर प्रेम अलभ्य नहीं रहता, उन की स्वरूपशक्ति की वृत्तिरूप प्रेम स्वरूपशक्तिमें से जीव-शक्तिमें को गंगाके प्रवाह की समान वहने लगता है, इस कारण महात्माओंकी दया होने पर प्रेम सुलभ है। कभी कभी किन्हीं २ जीवों को साक्षात् भगवान् की कृपा से भी प्रेम-लाभ होता है, परन्तु यह बात भगवान् के अवतारकालमें ही होसकती है, और समय भक्तों के द्वारा ही भगवान् की कृपाका लाभ होसकता है। महात्मा जड़भरतने रहूगण राजा से कहा था कि "रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वप-नाद् गृहाद्वा। न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पाद-रजोऽभिषेकात्॥" अर्थात् हे रहूगण ! यह भक्तिरूप सिद्धि तपस्या के द्वारा नहीं होती, यागादि कर्मके द्वारा भी नहीं होती, घरको छोड़कर योगी होने से भी नहीं होती, वेद और वेदान्त को पढ़ लेने मात्र से भी नहीं होती, अग्निके द्वारा अग्निहोत्रादि करने से भी नहीं होती, जलके द्वारा स्नान सन्ध्या तर्पणादि करने से भी नहीं होती, सूर्योपस्थान वा

ग्रीष्मके तापसेवनादि से भी नहीं होती, केवल महात्माओं की चरणरजका सेवन करने से ही होती है । भगवान् ने अपने श्रीमुखसे भी कहा है—"न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः । ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥" हे अक्रूर ! गंगा आदि तीर्थ और मृण्मय वा शिलामय देवता जिनको पवित्र नहीं करते वा बहुत विलम्बसे पवित्र करते हैं, उनको साधु महात्मा दर्शनमात्र से ही पवित्र कर देते हैं । बाहरी चेष्टा वा यत्न से भक्तिका लाभ नहीं होता, किन्तु साधु महात्माओं का अनुग्रह होते ही भगवान् की कृपादृष्टि होकर हृदयमें भक्तिका उदय होता है ॥ ३८ ॥

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ३९

महतां संगः, दुष्प्राप्यः, अगम्यः, सफलश्च ,।

पदार्थ

(तु) किन्तु (महत्संगः) महात्माओंका संग (दुर्लभः) दुर्लभ (अगम्यः) अगम्य (च) और (अमोघः) सफल है॥

भावार्थ

महात्माओंका संग होय तो उनकी कृपा होसकती है, परन्तु उनका संग बड़ा दुर्लभ है, वह हमारे चाहने पर नहीं होसकता, क्योंकि वह कामना और स्वार्थरहित होते हैं, उन का संग होनेका उन की इच्छा के सिवाय और कोई उपाय नहीं है. उनकी ऐसी इच्छा होने का कारण भी साधारण पुरुषोंकी समझमें नहीं आसकता. अपना सौभाग्य हो तब

ही उन का दर्शन होता है, यदि महात्मा सामने आजायँ तब भी अपने मनमें मलिनता होने के कारण उनको पहिचाना नहीं जाता, इसकारण महत्पुरुषोंका संग दुर्लभ है, परन्तु एक वार किसी प्रकार संग हुआ, कि—वह निष्फल नहीं जाता, अपने अधिकार के अनुसार उसका फल अवश्य ही मिलता है, इसकारण वह अमोघ है ॥

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ ४० ॥

तस्य भगवतः कृपयैव संगः अपि लभ्यते प्राप्यते ।

पदार्थ

(तत्कृपया-एव) भगवान् की दया करके ही (लभ्यते अपि) प्राप्त भी होता है ॥

भावार्थ

श्रीभगवान् जिसके ऊपर दया करना चाहते हैं, उसी समय वह किसी साधुके मनमें बैठकर उसको भेजदेते हैं। वह अपने भावसे जिसको रंग देते हैं, दया करके जिसके हृदयके किवाड़ खोल देते हैं, उसको ही भगवान्के भेजहुए साधुका दर्शन और संग होता है ॥ ४० ॥

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ ४१ ॥

तस्मिन् भगवति तज्जने हरिजने भेदाभावात् एवं भवति।

पदार्थ

(तस्मिन्) तिन भगवान् में (तज्जने) उनके भक्त में (भेदाभावात्) भेद न होने से ॥

भावार्थ

श्रीभगवान् और उनके भक्त में भेद नहीं है, इसी से भगवान् की इच्छा में ही भक्त की इच्छा होती है, इसी से भगवान् जिसके ऊपर दया करना चाहते हैं, उसको अपना निदर्शनरूप साधुसंग देते हैं, भगवान् की दया का भी समय है, जब किसी जीव का हृदय आत्मप्रशंसारहित होता है, जब आत्मग्लानि का अनुभव करता है, जब अपने को तुच्छ समझने लगता है, तब ही उसके ऊपर भगवान् की दया होती है, वह आत्मग्लानि जब शास्त्रीयश्रद्धा के साथ दीनता के रूप में आजाती है, उसी समय वह दया साधुसंगके स्वरूप में प्रकाशित होती है, साधु को देखते ही भगवान् का स्मरण होता है, भक्त की भावना के अनुसार उन की प्रतीति होती है, भक्त उन में और वह भक्त के हृदय में रहते हैं इस कारण दोनों में भेद नहीं है ॥ ४१ ॥

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ४२

तत् प्रेम एव पौनःपुन्येन साध्यताम् ॥

पदार्थ

(तत्-एव) उस प्रेम को ही (साध्यताम्) साधन करो (तत्-एव) उस प्रेम को ही (साध्यताम्) साधन करो ॥

(भावार्थ)

नारदजी भक्ति को पाने का और उपाय न देखकर और किसी चातुरी से जीवकी गति न होनी समझकर, भक्ति ही साधनसमुद्रका एक मात्र अमूल्य रत्न है, इस बात का तपोबल

से अनुभव करकै जीवके कल्याण के लिये ऊपर को भुजा उठाकर मुक्तकण्ठसे कहते हैं, कि—हे जीव भगवद्भक्ति के सिवाय और किसी प्रकार उद्धार नहीं है, तो उसकी साधना कर ॥४२॥

॥ षष्ठ अनुवाक ॥

दुःसंगः सर्वथैव त्याज्यः ४३

दुःसङ्गः विषयिजनसमागमः सर्वथा सर्वैः प्रयत्नैः त्याज्यः परिहरणीयः ॥

पदार्थ

(दुःसङ्गः) कुसङ्ग (सर्वथा–एव) सबप्रकार से ही (त्याज्यः) त्याग देना चाहिये ॥

भावार्थ

यदि भक्ति को पाने की चाहना हो तो पहिले दुःसंग को त्यागो। विषयों में आसक्त पुरुषों के संग को दुःसंग कहते हैं। संग होने पर एक के गुणदोष दूसरे में आते हैं विषयासक्त पुरुष के संग से विषय के सुखदायकपन गुण का ध्यान होते २ विषयों में आसक्ति होने लगती है, विषयासक्त पुरुष किसी प्रकार विषय को छोड़ देने पर भी विषयों की तृष्णा से छुटकारा नहीं पासकता, इस कारण विषय तृष्णा के मूल दुःसंग को उद्योग करकै त्याग देना चाहिये॥

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाश-सर्वनाशकारणत्वात् ॥४४॥

यतो हि सः दुःसंगः कामक्रोधादीनां निदानमतः त्याज्यः ।

पदार्थ

(कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात्) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिनाश, बुद्धिनाश और सर्वनाश का कारण होने से ॥

भावार्थ

कुसंगी की खोटी संमति से और उस के खोटे व्यवहार को देखने से काम अर्थात् विषयों के भोगकी अभिलाषा होती है, किसी कारण से उस विषयभोग की तृप्ति में बाधा पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध का उदय होते ही चित्त चंचल होकर भले बुरे के विचार से हीनतारूप मूढता वा मोह उत्पन्न होजाता है, मोह होते ही चित्त अज्ञानान्धकार में ढकजाता है, चित्त में स्थित संस्कारों का विस्मरण होजाता है, तव अपने कल्याणसाधनके उपायरूप इन्द्रियोंको जीतने की चेष्टा और उस के अनुसंधान का भी ध्यान नहीं रहता, इस स्मृतिनाश के साथ २ बुद्धि भी ठिकाने नहीं रहती, मनुष्य कुछ का कुछ करने लगता है, और ऐसा हुआ कि जीवका लोक परलोक सब नष्ट होजाता है, ऐसे सर्वनाश के कारण दुःसंग को जैसे बने तैसे त्यागना ही चाहिये ४४॥

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति ॥ ४५ ॥

तरङ्गायिता अपि सूक्ष्मरूपेण वर्त्तमाना अपि, इमे कामादयः सङ्गात दुःसमागमात् समुद्रायन्ति उपचीयन्ते ॥

पदार्थ

(तरंगायिता-अपि) तरंगकी समान स्थित भी (इमे) यह (संगात्) संग से (समुद्रायन्ति) समुद्रसे होजाते हैं ॥

भावार्थ

उस कुसंगका और भी दोष दिखाते हैं, कि—जो मनुष्य सुमार्ग पर चलते हैं उनको जैसे कभी कभी ज्ञान की सूक्ष्म तरंगें उठा करती हैं जैसे स्त्रीगमन के अन्तमें, तीर्थयात्रा में हरिकथाओं को सुनने पर वा स्मशान को देखने पर ज्ञान की तरंगे उठती हैं, मनुष्य जितनी देर स्मशानमें बैठते हैं, संसार नाशवान् है, धन जन में मोह करना अच्छा नहीं, इत्यादि ज्ञान की बातें करते हैं, परन्तु तहां से लौटकर घर आते ही सब भूलकर संसारमें मग्न होजाते हैं, ऐसे ही सज्जनों को यद्यपि अपने वर्णाश्रमके अनुकूल कर्मोंको करतेहुए पुत्रस्नेह आदि के द्वारा काम क्रोधादि की तरंगे उठकर मोह होता है, परन्तु वह उतने ही समय रहता है जबतक वह अपने स्वरूपको भूले रहते हैं, परन्तु यदि वही सज्जन कुसंगमें पड़जायँ तो उनकी साधुताके भाव धीरे २ अन्तर्धान होकर उन सूक्ष्मरूप से वर्त्तमान काम क्रोधादि की तरंगों पर तरंगे आकर उन का एक विशाल समुद्रसा बन जाता है और वह जीवों को दुःखभरी गम्भीर गहराई में डुबो देता है ॥ ४५ ॥

कस्तरति कस्तरति मायां ? यः संगं त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति ॥ ४६ ॥

कः जनः मायां तरति अतिक्रामति, यः जनः संगं आसक्तिं, त्यजति परिहरति, महानुभावं साधुजनं, सेवते भजति, निर्ममः ममत्वरहितः भवति, स एव मायां तरति ।

पदार्थ

(कः) कौन (मायाम्) माया को (तरति) तरता है (यः) जो (संगम्) संगको (त्यजति) त्यागता है (यः) जो (महानुभावं) साधुपुरुषको (सेवते) भजता है (निर्ममः) ममतारहित (भवति) होता है ॥

भावार्थ

मनुष्यमात्र स्वभाव से ही यह चाहता है, कि—मेरे दुःख दूर हों और सुख मिले, परन्तु यह दुःख दूर होना और सुख मिलना मनुष्य की इच्छा के अधीन नहीं है, यह सब कर्मानुसार होता है, कर्मों के वशीभूत मनुष्य परवश होकर दुःखों को और सुखों को भोगता है। विवश होकर सुख दुःखों का भोग करते २ कभी किसी पुरुष को आत्मग्लानि होती है, आत्मग्लानि होने से श्रद्धा होती है। शास्त्र पर विश्वास का नाम ही श्रद्धा है, श्रद्धावान् पुरुष भक्तिका अधिकारी है। शास्त्र के ऊपर विश्वास होने पर व्यवहार से गाढ़ा सम्बन्ध

होने पर भी परमार्थमें शिथिल विश्वास के साथ शास्त्रानुसार आचरण में आदर और चाहना देखने में आती है। यह आदरसहित चाहना भी श्रद्धा की ही एक अवस्था है। शास्त्रोक्त आचरण में आदर के साथ चाहना उत्पन्न होने पर भी यथावत् आचार के पालन की शक्ति नहीं होती है, इसी से सांसारिक सुख दुःख देने वाले कर्म में उदासीनता भी उत्पन्न नहीं होती और सकल कर्मों में बड़ी भारी आसक्ति भी नहीं होती। जितनी २ आसक्ति कम होती जाती है उतनी उतनी ही निषिद्ध आचरण की कमी के साथ विहित आचरण की वृद्धि होती जाती है और ऐसा होते २ क्रम से कर्मफल में आसक्ति नहीं रहती। फल की आसक्ति से रहित कर्म को ही निष्काम कर्म कहते हैं। निष्काम कर्म का आरम्भ होते ही साधन की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है और ऐसी समझ होते ही साधु पुरुषों का समागम होता है साधु समागम के साथ साधुसेवा में प्रवृत्ति होने के साथ साथ व्यवहार में कुछ २ शिथिलता और परमार्थ में को कुछ गाढ़ता होने लगती है, यह ही प्रेम का बीज है। साधुसेवा ही भजन की पहिली सीढ़ी है। यह प्रथम भजन–क्रिया दो प्रकार की है–निष्ठित और अनिष्ठित। इस भजनक्रिया का आरम्भ होते ही अन्य बातें दूर होकर क्षणिक ध्यान होने लगता है, फिर भजनक्रिया की मात्रा के अनुसार सकल अनर्थों की निवृत्ति के साथ २ ध्यान जमने लगता है और अन्य बातों में को चित्त नहीं जाता। अनर्थ चार प्रकार के

हैं—१ दुष्कर्म से होने वाले, २ सुकृत से होने वाले, ३ अपराध से होने वाले, और ४ भक्ति से होने वाले। पाप कर्म के कारण जो अनुचित भोगासक्ति आदि, उस से उत्पन्न हुए काम आदि शत्रु के आक्रमण से कलुषित हुए चित्त के लय विक्षेप आदि का नाम दुष्कर्मोत्थ अनर्थ है। पुण्य-कर्म वश शुद्ध भोगासक्ति आदि के कार्यरूप लयविक्षेप आदि का नाम सुकृतोत्थ अनर्थ है। नानापराध से उत्पन्न हुए लय विक्षेप आदि अनर्थों का नाम अपराधोत्थ अनर्थ है। शिव कोई अलग ईश्वर नहीं हैं, किन्तु विष्णु का ही एक अवतार हैं, तथापि उन को विष्णु से भिन्न अलग ईश्वर मानना तथा गुरुदेव में मनुष्यबुद्धि आदि अवज्ञा करना, वेद पुराण आदि शास्त्रों की निन्दा करना, नाम में अर्थवाद अर्थात् भगवन्नाम की जो शक्तियें कही हैं वह वास्तव में नहीं हैं, किन्तु प्रशंसा की बात है ऐसा समझना। नाम की खोटी व्याख्या वा कष्ट कल्पना करना, नाम के बल पर पापकर्म करना करना, नाम को अन्य शुभकर्मों के समान समझना, श्रद्धाहीन को नामका उपदेश देना, नाम का माहात्म्य सुनकर भी नाम में प्रीति न करना, यह दश नामापराध हैं भक्ति के द्वारा होनेवाली पूजा आदि की चेष्टा से उत्पन्न हुए लय विक्षेप आदि का नाम भक्त्युत्थ अनर्थ है। यह चारों प्रकार के अनर्थ जितने कम होंगे उतनी ही भजन में निष्ठा होगी। निश्चलता को निष्ठा कहते हैं। अनर्थदशा में लय विक्षेप आदि के कारण भजन में निश्चलता नहीं होती।

जितने जितने लय विक्षेप आदि अनर्थ कम होते जायँगे उतनी ही निश्चलता होती जायगी। इन अनर्थों के निवृत्त होनेका उपाय श्रीचैतन्यदेवने कहा है, कि-"तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः,, तिनुके से भी नीचा, वृक्षसे भी अधिक सहनशील, आप निरभिमान होना और सब में भगवान् की ही झांकी है ऐसा समझकर दूसरों का सन्मान करना, ऐसा होकर निरन्तर भगवन्नामकीर्त्तन करे, इस उपदेशपर चलनेपर भजन में निष्ठा होजायगी, निष्ठाके अनंतर रुचि होकर आसक्ति होगी। आसक्ति होनेपर ध्यान जमने लगेगा ध्यान गाढ़ा होकर भाव होजायगा, वह भाव ही प्रेम का अंकुर है। उस दशा में समाधिके समय पर तत्व की स्फूर्ति होती है। भावका ही दूसरा नाम प्रेम है। प्रेमका उदय होने पर क्रम से देह और देहके संबंधियों मेंकी ममता कम होती जाती है और ममतारहित भक्तको भगवान् का बहिःसाक्षात्कार होने से उसके हृदय की गांठ खुलजाती है, सब प्रकारके सन्देहोंकी निवृत्ति और कर्मका जड़मूलसे क्षय होजाता है, जिसके कर्म की जड़ कटगई वही माया के पार होगया, यह माया के पार होना किसी का शरीर शान्त होनेपर और किसीका शरीर के रहते भी सिद्ध होजाता है ॥ ४६ ॥

यो विविक्तस्थानं सेवते यो लोकबंधमुन्मूलयति निस्त्रैगुण्यो भवति यो योगक्षेमं त्यजति ४७

यः पुरुषः, विविक्तस्थानं एकान्तं सेवते, यः लोकबन्धं लौकिकसम्बन्धं उन्मूलयति दूरीकरोति, निस्त्रैगुण्यः त्रिगुण रहितः उपनिषत्प्रतिपादितात्मयाथात्म्यनिश्चयः भवति, यः योगक्षेमं अप्राप्तस्य प्राप्त्युद्योगं प्राप्तस्य च परिरक्षणं त्यजति, सः मायां तरति ।

पदार्थ

(यः) जो (विविक्तस्थानम्) निर्जन स्थान को (सेवते) सेवन करता है (यः) जो (लोकबन्धम्) लोकसङ्कल्प बंधन को (उन्मूलयति) उन्मूलन करता है (निस्त्रैगुण्यः) त्रिगुणरहित (भवति) होता है (यः) जो (योगक्षेमम्) योगक्षेमको (त्यजति) त्यागता ॥ ४७ ॥

भावार्थ

माया से निस्तार पानेका और भी उपाय कहते हैं, कि लोकसमूह में रहने से सांसारिक कोलाहल के कारण निरंतर भगवच्चिन्तवन नहीं बनता, नाना प्रकारके लोकों के संगसे व्यवहार में संलग्न होना पड़ता है, इस दशा में सङ्गदोष लगजाता है और जनसमूह में रहने से लौकिक मर्यादा के अनुसार ही आचार व्यवहार आदि की व्यर्थ अड़चन में पड़ना होगा, नाच गान रंगरस में मन मग्न हो जायगा, इस लिए निर्जन स्थान में निवास करना ही हितकारी है. जो निष्कामकर्म के द्वारा विशुद्धचित्त होकर निर्जनस्थान में आत्मचिंतवन में लगे रहते हैं इस प्रकार जिन के लौकिक व्यवहार का बंधन विच्छिन्न होजाता है,

जो सत्त्व, रजः, तमः, इन तीन गुण और इन गुणों के कार्यों से अलग रहकर उपनिषदों में वर्णन किये हुए आत्मतत्त्व के साक्षात्कार की चेष्टा करते हैं, ऐसा करने के लिये जो वाणी शरीर और मन को वश में रखकर योगक्षेमको त्याग देते हैं, अर्थात् भोजनाच्छादन की चेष्टा तक को त्याग देते हैं, शरीरयात्रा के लिए जो कुछ चाहिये भगवद्भक्त को उस की भी चिंता नहीं करनी पड़ती—"भोजनाच्छादने चिंतां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः। विश्वम्भरो गुरुर्येषां किं दासान् समुपेक्षते।" अर्थात् विष्णुपरायण पुरुष अपने भोजन वस्त्र के लिये वृथा ही चिंता करते हैं, क्योंकि—चराचर सकल विश्व को भोजन देनेवाला विश्वम्भर जिनका रक्षक है वह क्या अपने अनुगत सेवकों की उपेक्षा कर सकता है ? भगवान् की तो प्रतिज्ञा ही है, कि—"अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥" जो पुरुष अनन्यभाव से मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं उन की शरीरयात्रा के निर्वाह का भार मैं अपने ऊपर लेता हूँ। क्योंकि—जब सब कुछ छोड़कर भी अपने लिए हाय हाय ही रही तो उस छोडने को धिक्कार है ऐसी वृत्ति वाले पुरुष शरीर और शरीरके संबन्धियों की ममता से रहित और शांत होकर पापरहित, अजर, अमर, क्षुधा, पिपासा, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प, शुद्ध जीवात्मा के साक्षात्कार के अनन्तर सकल प्राणियों में समदर्शीपना पाकर परमप्रेमके प्रकट होने पर माया के पार होजाते हैं ॥ ४७ ॥

यः कर्मफलं त्यजते कर्माणि संन्यसति ततो निर्द्वंद्वो भवति॥४८॥

यः कर्म फलम् त्यजते, ततः कर्माणि अपि संन्यसति परित्यजति सः ततस्तदनन्तरं निर्द्वन्द्वः द्वन्द्वातीतो भवति॥

पदार्थ

(यः) जो (कर्मफलम्) कर्मफल को (त्यजते) त्यागता है (कर्माणि) कर्मों को (संन्यसति) त्यागता है (ततः) तदनन्तर (निर्द्वन्द्वः) द्वन्द्वातीत (भवति) होता है।

भावार्थ

जबतक साधक के मनोवेग की शान्ति न हो अर्थात् पदार्थों में प्रवृत्ति बनी रहे तबतक विहित कर्मों का आचरण न छोड़े, परन्तु उन कर्मों के फल को अपने भोग के लिए न चाहकर उन सब कर्मों का फल भगवान् को अर्पण कर देय, तदनन्तर जब इन्द्रियें और उनका वेग शान्त होने लगे अर्थात् निवृत्तिमें श्रद्धा का उदय होय तब विक्षेपकारी कर्मों को भी त्यागदेय इसप्रकार साधन के क्रम से सुख दुःखादि द्वन्द्वों के पार होजाय अर्थात् जिसका चित्त सुख में स्पृहा-रहित और दुःख में उद्वेगरहित हो वह समदर्शी ही माया के पार होता है॥ ४८ ॥

यो वेदानपि संन्यसति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥४९॥

यः वेदान् वेदोक्तकार्य्यविधीन् अपि संन्यसति त्यजति केवलं एकमात्रं अविच्छिन्नानुरागं निरंतरं प्रेम लभते।

पदार्थ

(यः) जो (वेदान्–अपि) वेदोक्त मर्यादाको भी (संन्यसति) त्यागता है (केवलम्) एकमात्र (अविच्छिन्नानुरागम्) निरन्तर प्रेम को (लभते) पाता है।

भावार्थ

कर्मफल में आसक्तिरहित होकर कर्मफल का अनुष्ठान करते २ मनका वेग दूर होकर शुद्धचित्त हुए मनुष्य को ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति होती है, फिर लोकमर्यादा की ओरको ध्यान नहीं होता। स्वधर्माचरण के गुण और उस को त्यागने के दोष को जानने वाले पुरुष के भी लौकिक-कर्म का त्याग होजाता है लौकिककर्म का त्याग होने पर भी वेद की ओर को ध्यान रहने से वैदिक कर्म का त्याग नहीं होता, भक्त भक्तिका उदय होने पर्यन्त ही वेदविहित कर्म का अनुष्ठान करते हैं परन्तु प्रेमपंथी पुरुष लोकमर्यादा और वेदमर्यादा दोनों को त्याग कर निरन्तर प्रेम के साथ भगवान् के गुणानुवादों का श्रवण कीर्त्तन आदि ही करते हैं जिनके अन्तःकरण में ऐसे पवित्र परमप्रेमका प्रवाह निरंतर वहने लगता है वह अनायास में ही माया के पार होजाते हैं ४६

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति॥

सः निरवच्छिन्नप्रेमयुक्तो भक्तः, मायां तरति, लोकान् अपि तारयति॥

पदार्थ

(सः) वह (तरति) तरता है (सः) वह (तरति) तरता है (लोकान्-अपि) लोकोंको भी (तारयति) तारता है ॥

भावार्थ

नारदजी भक्तिरसमें भरकर और भक्तितत्त्व की निर्मल-ज्योति का दर्शन करके, भक्तिसाधक की विश्वमोहिनी अवस्था को देखकर आनन्दमें नाच उठे और वह लोगोंकी आंखें खोलने के लिये उत्साह के साथ कहते हैं, कि-अविच्छिन्न भगवत्प्रेमी भक्त ही माया के पार होता है और वह आप ही पार नहीं होता, किन्तु और लोगों को भी पार लगाता है, भगवान् आप ही कहते हैं, कि-"मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति" वा 'पुनाति भुवनत्रयम्।' अर्थात् मेरा भक्त त्रिलोकी को पवित्र करता है ॥ ५० ॥

सप्तम अनुवाक

अनिर्वचनीयं प्रेम-स्वरूपम्॥५१॥

येन प्रेम्णा भक्तः स्वयं कृतार्थः सन्नन्यानपि कृतार्थयति तस्य प्रेम्णः स्वरूपं अनिर्वचनीयं वक्तुमशक्यम्।

पदार्थ

(प्रेमस्वरूपम्) प्रेमका स्वरूप (अनिर्वचनीयम्) अकथनीय है ॥ ५१ ॥

भावार्थ

जिस प्रेम की सहायता से परमकल्याण होता है, उस

प्रेमका स्वरूप वाणी से नहीं कहा जासकता, उसको प्रेमी ही जानते हैं, जानकर भी उसको वह किसी के सामने प्रकट नहीं कर सकते, इस संसार में ऐसी कोई वस्तु वा वाक्य है ही नहीं, जिस के द्वारा प्रेमका स्वरूप समझाया जासकै, प्रेमके लिये दूसरा शब्द है चाहना, परन्तु लौकिक चाहना की मूल अशुद्ध है, क्यों कि—उसमें स्वार्थ है, भगवत्प्रेम अत्यन्त शुद्ध और निःस्वार्थ है। भगवत्प्रेम के भीतर निःस्वार्थभाव, निरहंकार-भाव और आत्मसमर्पण का भाव भरा हुआ है। जहाँ स्वार्थ है, तहाँ अहंकार है, जहाँ आत्मंभरीपन देखने में आता है तहाँ लौकिक प्रेम ही होसकता है, भगवत्प्रेम नहीं होसकता। भगवत्प्रेम आत्मा में एक ऐसा पदार्थ होता है, कि—मनुष्य के स्वार्थ को भगवदर्थ में, अहंकार को दीनता में और स्वार्थीपन को परमार्थपरायणता में बदल कर विलीन करकै अणुचैतन्य को विभुचैतन्य में, अंश को अंशी में, दास को प्रभुमें और शक्तिको शक्तिमान् में समर्पण करा देता है। भगवत्प्रेम अनादि से बहिर्मुख जीव को सब प्रकार से अन्तर्मुख कर देता है। वह स्वभाव से भगवद्विमुख मनुष्य को निरन्तर स्मरण के प्रवाह में डालकर हर समय भगवान् की सन्मुखता देता है। प्रेम आत्मा की वह वृत्ति है कि—जो परमक्षुद्र मनुष्य को वाणी और मन के अगोचर अनन्त परब्रह्म की खोज में प्रवृत्त कराकर अंश को अंशी के साथ, शक्ति को शक्तिमान् के साथ मिला कर अटूट बन्धन में बांधदेती है। वह मनुष्य के अस्वाभाविक अहङ्कार को

स्वाभाविक अहङ्कारमें विलीन करके उसमें आने वाले प्रभुताके अभिमान को चिरकाल के लिये भुलाकर, ठहरने वाली दास्य-बुद्धि को उत्पन्न कर देती है और अंत में उस की क्षुद्रवासना को परमेश्वर की महती कृपा में मिला कर, चिरकाल से अलग हुई, शक्ति को शक्तिमान् के साथ संभोग-दशा में पूर्णतया एकाकार करदेती है। वह मनुष्य की स्वतन्त्रताको परतन्त्रता में बदल देती है। मनुष्यके सकल स्वार्थमूलक कर्मों को परार्थमूलक करके, जगत् के द्वेषभाव को प्रीतिभाव में बदलकर उस को सकल जीवों की सेवा में तथा भगवान् की सेवामें लगादेती है। वह मनुष्य के अज्ञानान्धकार को दूर करके उसको निःस्वार्थभाव से परोपकार करने के लिये तथा जगत्का हित करनेके लिये तत्त्वज्ञानसे प्रकाशित करदेती है। वह मनुष्य को अपनी ओर की चिंता से रहित करके उसका ध्यान संसार और संसारपति की ओर को लगादेती है। वह मनुष्य के कठोर अन्तःकरणको कोमल करदेती है, संसारके सकल विक्षेपों को हटा देती है, विक्षिप्त चित्तको शान्त करदेती है मनुष्य की मोहनिद्रा को दूर करके जगा देती है, खिन्नता को दूर करके प्रसन्नता देती है, कर्त्तव्यभ्रष्ट मनुष्य को कर्त्तव्य पर ठहराती है, नीरस चित्त में सरसता लाती है. उस की शक्ति अनन्त है, उसका स्वरूप अनिर्वचनीय है, क्योंकि-उसकेसी कोई लौकिक वस्तु है ही नहीं. इसलिये भगवत्प्रेमको लौकिक वाणी से प्रकाशित करने की आशा दुराशा ही है॥ ५१ ॥

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

तत् मूकास्वादनवत अनिर्वचनीयम् ।

पदार्थ

(मूकास्वादनवत्) गूंगे के स्वाद की समान है ।

भावार्थ

जैसे गूंगा पुरुष परम स्वादु मीठे पदार्थों का स्वाद लेकर आनन्द से गद्गद होजाता है, परन्तु वाक्शक्ति न होने से दूसरे को उस रसका वर्णन करके नहीं समझा सकता है, केवल हँस देता है, ऐसे ही भगवान् का प्रेमी भक्त भी प्रेम प्रकट होने के समय आनन्द से गद्गद होजाता है, स्वयं उसका स्वाद लेकर भी दूसरे को उसका स्वरूप कहकर नहीं समझा सकता, इस कारण वह वाणीका विषय न होनेसे अनिर्वचनीय है ॥ ५२ ॥

प्रकाश्यते क्वापि पात्रे ॥ ५३ ॥

क्वापि पात्रे कस्मिंश्चित् अधिकारिणि स्वयमेव प्रकाश्यते

पदार्थ

(क्वापि) किसी भी (पात्रे) अधिकारी में (प्रकाश्यते) प्रकाशित होता है ।

भावार्थ

प्रेम स्वयं-प्रकाश है, उसका कोई प्रकाशक नहीं है, बुद्धि के विचार, कष्टकल्पना और भाषा की निपुणताके द्वारा

उस के स्वरूप की व्याख्या नहीं की जासकती, परन्तु उस में अपनी एक ऐसी शक्ति है, कि—जब कोई भाग्यवान् पुरुप प्रेम में मतवाला होकर अपने को आप ही भूल जाता है, उस समय वह प्रेमीके संसर्ग से धीरे २ आप ही प्रकाशित होजाता है ॥ ५३ ॥

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षण-वर्द्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनु-भवरूपम् ॥ ५४ ॥

गुणरहितं गुणातीतं, कामनारहितं कामनाया अविपयम्, प्रतिक्षणं वर्द्धमानं, अविच्छिन्नं अखण्डितं, सूक्ष्मतरं परमं सूक्ष्मं, अनुभवरूपं प्रेम ।

पदार्थ

(गुणरहितम्) गुणों से हीन (कामनारहितम्) कामनाहीन (प्रतिक्षणवर्द्धमानम्) क्षण २ में बढ़नेवाला (अविच्छिन्नम्) विच्छेद रहित (सूक्ष्मतरम्) अतिसूक्ष्म (अनुभवरूपम्) अनुभवस्वरूप है ॥

(भावार्थ)

किसी के गुणों को देखकर जो प्रेम, भक्ति वा चाहना का उदय होता है, स्वर्गादि की कामना से वा भोगादि की लालसा से जो पुण्यकर्म में वा भक्ति में आसक्ति होती है वह वास्तविक प्रेम नहीं है, क्योंकि—गुणों से जो प्रेम

किया जाता है, उस का गुण दूर होते ही उस प्रेम का क्षय होज़ाता है,स्वर्गादि की प्राप्ति होजाने पर कर्म में आसक्ति कम होजाती है, स्त्रीसंभोगकी समाप्तिमें वह प्रेम नष्ट होजाता है, परन्तु भगवत्प्रेमका विच्छेद नहीं होता, क्योंकि—वह गुणों के संपर्कसे शून्य और कामनारहित होता है,संसारका प्रेम पहिले तो बड़े चावके साथ बढ़ता है, परन्तु पीछे अवस्था, रूप, बल और धन आदि के घटने के साथ २ दिन दिन घटता चला जाता है, परन्तु भगवत्प्रेम तो क्षण २ में बढ़ता ही है, प्रेम की धारा अनन्त परमेश्वर की ओर को अटूट प्रवाह से निरन्तर बहती है, उसमें किसी सांसारिक दुःख आदि की बाधा, विच्छेद वा विराम नहीं होता, क्योंकि—भगवद्वियोग के महान् दुःखसागर में संसार के सकल क्षुद्र दुःख डूबजाते हैं। वह भगवत्प्रेम सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और अनुभवस्वरूप है, वह सच्चिदानन्दमय परमेश्वर की सच्चिदानन्दमयी स्वरूपशक्ति की अनुकूल अभिलाषारूप स्वाभाविक वृत्ति है, वह वृत्ति निरन्तर बढ़ती हुई अविच्छिन्न प्रवाहरूप से बहती रहती है वह जिस समय भगवान् की कृपासे किसी मनुष्य के अन्तः-करण में प्रकट होकर उसकी वृत्ति के साथ मिलजाती है, उस समय वह उस मनुष्य को अपनी ही वृत्ति मालूम होती है और तब ही यह उसके अनुभव का विषय होती है, इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनुभवरूप होने से ही उसका कोई उदाहरण नहीं दिया जासकता। भाषाके बोधा कवि ने प्रेम की सूक्ष्मता के वर्णन में यह कवित्त कहा है-"अति छीन मृनाल के तारहु ते, तेहि ऊपर पांवदे आवनो है। सुचि

वेधते नाको सकीर्न तहां, परतीतको टांड़ो लदावनो है ॥ कवि बोधा अनी धनी नेनहुते, चढ़ि तापै न चित्त डिगावनो है । यह प्रेम को पन्थ कराल महा, तरवारकी धार पै धावनो है,,॥

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव चिन्तयति ॥ ५५ ॥

तत् प्रेम प्राप्य, मनुष्यः तदेव अवलोकयति पश्यति, तदेव शृणोति तत् एव चिन्तयति विचारयति ।

पदार्थ

(तत्) उसको (प्राप्य) पाकर (तत्-एव) उसको ही (अवलोकयति) देखना है (तत-एव) उसको ही (शृणोति) सुनता है (तत्-एव) उसको ही (चिन्तयति) विचारता है ॥

भावार्थ

प्रेमी के सामने प्रेममय भगवान् का स्वरूप और प्रेम का स्वरूप एक ही पदार्थ है, जिन्होंने प्रेम को पा लिया उन्होंने भगवान् को पा लिया, इसकारण उनको फिर प्रेमस्वरूप भगवान् के सिवाय और किसी को देखने, सुनने वा विचारने की इच्छा नहीं रहती है ॥ ५५ ॥

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्त्तादिभेदाद्वा ॥ ५६ ॥

प्रेम्णः साधनरूपा भक्तिर्द्विविधा मुख्या गौणी, तत्र गौणी गुणभेदात् वा आर्त्तादिभेदात् त्रिविधा ।

पदार्थ

(गौणी) गौणी भक्ति (गुणभेदात्) गुणभेद से (वा) अथवा (आर्त्तादिभेदात्) आर्त्ता आदि भेद से (त्रिधा) तीन प्रकार की है ॥

भावार्थ

मुख्या और गौणी भेद से भक्ति दो प्रकारकी है, ज्ञानी वा निर्गुणभक्त की अनुभव कीहुई भक्ति मुख्या है, उस का स्वरूप यहाँ तक दिखाया। अब गौणी भक्ति सत्त्व-रजः-तमः इन गुणोंके कारण सात्विकी राजसी और तामसी ऐसे तीन प्रकार की है, सत्त्वगुणी की कीहुई सात्विकी, रजोगुणी की कीहुई राजसी और तमोगुणी की कीहुई गौणी भक्ति तामसी कहाती है, जिज्ञासु वा मुमुत्तु भक्त सात्विक, आर्त्त भक्त राजस और अर्थार्थी भक्त तामस अधिकारी है। इनमें जिज्ञासु निष्काम और आर्त्त तथा अर्थार्थी सकाम हैं ॥ ५६ ॥

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति॥ ५७

उत्तरस्मात् उत्तरस्मात परतः परतः, पूर्वपूर्वा भक्तिः श्रेयाय कल्याणाय भवति ।

पदार्थ

(उत्तरस्मात् उत्तरस्मात्) अगली २ से (पूर्वपूर्वा) पहिली २ (क्षेमाय) कल्याणके लिये (भवति) होती है ॥

भावार्थ

यद्यपि तीनों प्रकारकी भक्ति कल्याणकारिणी हैं तथापि तामसी से राजसी और राजसी से सात्विकी भक्तिको अधिक कल्याणदायक समझना चाहिये, क्योंकि—अर्थार्थी तामस भक्त किसी कामना से ही भक्ति करते हैं, यदि उनको किसी पदार्थ की इच्छा न हो तो वह जाने भक्ति करें या नहीं,? इसमें सन्देह ही है, इसके सिवाय काम्य पदार्थ मिलजाने पर अभिमान होकर फिर उन को भगवान् की याद भी नहीं आती, आर्त्त भक्तको भी आर्त्ति के विना भक्ति नहीं होती। विपत्ति में विना पड़े वह भगवान् का भजन नहीं करते, यह ठीक है, परन्तु विपत्ति से छूटने पर उन को अभिमान होने की अधिक सम्भावना नहीं है, विशेषतः उस दशा में वह अपनी हीनता का अनुभव करके श्रीभगवान् को आत्मसमर्पण करते हैं, इस कारण वह कभी भगवान् को भूलते ही नहीं हैं, इसी से अर्थार्थी से आर्त्त भक्त श्रेष्ठ है, परन्तु जिज्ञासु इन दोनों से ही श्रेष्ठ है, क्यों कि—अर्थार्थी और आर्त्त दोनों सकाम हैं, जिज्ञासु मोक्षकाम वा निष्काम होता है, जिज्ञासु केवल तत्वज्ञानके लिये भगवान्की भक्ति करते हैं, जिज्ञासुकी भक्ति श्रीभगवान्के लिये श्रीभगवान्को जानने के लिये होती है। उसकी भक्ति की मूलमें अपनी क्षुद्रता और भगवान् का महत्व समझना है अर्थार्थी और आर्त्त की अभिलाषा भगवान् के अतिरिक्त उनके प्रसादसुख को पानेके लिये होती है। जिज्ञासु में पहिले मोक्षसुख की अभिलाषा दीखने पर भी साधन के पकजाने पर वह भी नहीं रहती, इस दशा में वह ज्ञानी होना

है, ज्ञानी को श्रीभगवान् के सिवाय और कोई अभिलाषा ही नहीं होती इस कारण निर्गुण भक्त ज्ञानी ही सबसे श्रेष्ठ है॥

अष्टम अनुवाक

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ ॥५८॥

अन्यस्मात् कर्मादिसाधनात् भक्तौ सौलभ्यं सुलभत्वम्॥

पदार्थ

(अन्यस्मात्) और से (भक्तौ) भक्ति में (सौलभ्यम्) सुलभता है।

भावार्थ

मोक्ष के तीन साधन हैं-कर्म, ज्ञान और भक्ति। कर्म, कर्मयोग और अष्टांगयोग भेद से दो प्रकार का है, यह कर्म मोक्ष का साधन होतेहुए भी साक्षात् साधन नहीं है किन्तु ज्ञान और भक्ति का अनुगामी होकर परम्परा से मोक्ष का साधन होता है। ज्ञान और भक्ति मोक्ष के साक्षात् साधन हैं। कर्मयोग और अष्टांगयोग का साधन करते समय अनेकों सिद्धियें वश में होकर साधक के उन्नतिमार्ग में विघ्न डालती हैं, परन्तु ज्ञानयोग वा भक्ति में विघ्न होना संभव ही नहीं; क्योंकि—ज्ञानयोग में चित्तशुद्धि पर्यन्त और भक्तियोग में आशयशुद्धिपर्यन्त कोई सिद्धि वश में होती ही नहीं। इस प्रकार ज्ञानयोग और भक्तियोग में आशयशुद्धि पर्यन्त कोई सिद्धि वशमें होती ही नहीं। इस प्रकारज्ञान योग और भक्तियोग में समता मालूम होनेपर

भी भक्तियोग ही सुलभता में श्रेष्ठ है, क्योंकि-विषयों से वैराग्य विना हुए ज्ञानयोगका अधिकारी नहीं होसकता, परन्तु भक्तियोग में ज्ञान वा वैराग्य की अपेक्षा नहीं है, जो विषयों में न अति आसक्त हो और न अति विरक्त हो वही भक्तियोगका अधिकारी है। हाँ ! यदि कोई ज्ञान वैराग्यको लेकर भक्तियोगमें प्रवेश करें तो वह उत्तम अधिकारी हैं, उन को भक्ति की सिद्धि शीघ्र ही होजायगी, भगवान् की कथा आदि में श्रद्धा होते ही भक्तियोगमें अधिकार होजाता है। कर्म त्यागके विना पुरुष ज्ञानी नहीं होसकता, परन्तु भक्त होसकता है, ज्ञानी कर्मका त्याग करने पर ही ज्ञानी होगा, परंतु भक्त कर्मफल को त्यागने से ही भक्त होजायगा। यद्यपि विघ्न न होने के विषयमें ज्ञान और भक्ति दोनों समान हैं, परन्तु ज्ञान से भक्ति का साधन सरस है। ज्ञानके साधन यम नियम आदि नीरस हैं, और भक्ति के साधन श्रवण कीर्तन आदि सरस हैं, ज्ञान में अधिकार का विचार है, परन्तु भक्तिमें अधिकार का विचार नहीं है, अतः भक्ति सबसे सुलभ है, तभी तो विद्या-विहीन होकर भी गणिका, निर्धन होकर भी शबरी, वेद न पढ़कर भी गोपियें, मनुष्य न होकर भी जटायु और गज-राज तथा चाण्डाल होकर भी गुहने भक्ति के द्वारा भगवान् को पाया ॥ ५८ ॥

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात्स्वयं प्रमाणत्वात् ॥ ५९ ॥

भक्तिः स्वयं प्रमाणस्वरूपा तत्सिद्धयै प्रमाणांतरस्य आवश्यकता न।

पदार्थ

(प्रमाणांतरस्य) अन्यप्रमाणकी (अनपेक्षत्वात्) अपेक्षा न होने से (स्वयम्) आप (प्रमाणत्वात्) प्रमाणरूप होनेसे

भावार्थ

भगवान् की भक्ति करने में किसीप्रकार का परिश्रम वा क्लेश नहीं होता, यह बात किसी को समझाने की आवश्यकता नहीं है, जो भक्ति की उपासना करते हैं, उनको आप ही इस बातका अनुभव होजाता है। भक्ति होगई या नहीं, विवाद के द्वारा इस सन्देह का निवारण नहीं करना पड़ता, भक्ति के साधन में क्लेश का उदय होने की तो बात ही क्या? प्रत्युत सकल क्लेश दूर होजाते हैं, उस भक्ति के लिये सच्ची उत्कण्ठा होते ही वह प्राप्त होजाती है, चित्त की सच्ची चाहना ही उस का मूल्य है, अतएव भक्ति की सुलभता में भक्ति ही प्रमाण है॥ ५९॥

शान्तिरूपत्वात् परमानन्द-रूपत्वाच्च ॥ ६० ॥

भक्तिः शान्तिरूपा परमानन्दरूपा च अतोऽपि सुलभैव।

पदार्थ

(शान्तिरूपत्वात्) शान्तिरूप होनेसे (च) और (परमानन्दरूपत्वात्) परमानन्द रूप होने से॥

भावार्थ

जिस साधनमें अशान्ति और दुःख है वह ही दुर्गम है और जिसमें वाद विवाद, द्वन्द्व, उद्वेग, सन्देह, संकल्प, विकल्प, सुख दुःख आदि तरङ्गों का लेश भी नहीं है, किन्तु शान्ति और सुख है, वह ही सुगम है, जो सुलभ है वही सुगम है। भक्ति के सिवाय और सब साधनों के अनुष्ठान में अशान्ति और असुख होता है, भक्ति के अनुष्ठान से ही शान्ति तथा सुख उत्पन्न होता है, और साधनों के सिद्ध होने पर शान्ति तथा सुख दीखता है परन्तु भक्ति में प्रवृत्ति होते ही शांति और सुख का अनुभव होने लगता है, क्यों कि-भक्ति स्वयं शांतिरूप और सुखरूप है, कामना ही अशान्ति की मूल है, भक्ति का आरम्भ होते ही सब कामनाएँ रुकने लगती हैं और भक्ति परमानन्दरूप है इस को तो सब ही जानते हैं ॥ ६० ॥

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात् ॥ ६१ ॥

भक्तैः लोकहानिश्चिन्ता न कर्त्तव्या यतस्तदा आत्मा लोको वेदश्च भगवते निवेदितः ॥

पदार्थ

(निवेदितात्मलोकवेदत्वात्) आत्मा, लोक और वेद को निवेदन करनेके कारण (लोकहानौ) लोकहानि के विषय में (चिन्ता) चिन्ता (न) नहीं (कार्या) करनी चाहिये॥

(ततसाधनम्) लौकिक कर्म का अनुष्ठान (कार्यम्—एव) करना चाहिये ही ॥ ६२ ॥

भावार्थ

भक्ति के साधक को ईश्वर में पूर्णतया आत्मनिवेदन की दृढ़ता होने से पहिले लोक—व्यवहारों को नहीं त्यागना चाहिये, नहीं तो वही दशा होगी, कि "दोनों दीन से गये पांडे, हलुआ हुआ न माँडे ।„ साधनकाल में एक साथ लोकव्यवहार को त्याग देने से तो शरीरयात्रा का निर्वाह होना भी कठिन है । योगारूढ़ होने का अभिलापी पुरुष कर्मत्याग का अधिकारी नहीं है, जो योगारूढ़ होजाता है वह ही कर्म को त्याग सकता है । जबतक योग में वृत्ति न जमजाय तबतक फलकी इच्छा को त्यागकर सकल लौकिक कर्मों को अवश्य ही करता रहै, ऐसा करते २ चित्त शुद्ध होजाता है और शुद्धचित्त पुरुष ही योगासिद्धि पासकता है, भक्तिमार्गमें श्रद्धा होते ही योगमें को प्रवृत्ति होती है। जो सकल संकल्पों को त्याग कर सब प्रकार से शरणागत होता है, वह ही श्रद्धालु है वह ही लोकव्यवहार को त्याग सकता है । श्रद्धालु भी तीन प्रकार का होता है, कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। जिनके कुछ २ श्रद्धा होती है वह कनिष्ठ श्रद्धालु हैं, इन को स्वनिष्ठ अधिकारी कहते हैं । स्वनिष्ठ अधिकारी कर्म को नहीं त्यागें किन्तु फलका उदय होने पर्यन्त आसक्ति को त्याग कर स्वधर्मविहित. हिंसारहित कर्मों का आचरण करते रहें। जिनकी । मध्यम श्रेणी की होती है वह मध्यम श्रद्धालु कहाते

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधा-भिमानादिकं तस्मिन्नेव करणी-यम् ॥ ६५ ॥

तस्मिन् भगवति अर्पितानि अखिलानि सकलानि आचाराणि कर्माणि येन, तेन कामादिकं अपि तस्मिन् भगवति एव करणीयम् ॥

पदार्थ

(तदर्पिताखिलाचारः सन्) सकल कर्म भगवान् को अर्पण करते हुए (कामक्रोधाभिमानादिकम्) काम क्रोध, अभिमान आदि (तस्मिन्-एव) उसमें ही (करणीयम्) करना चाहिये ॥ ६५ ॥

भावार्थ

शरीर, इन्द्रियें और मन से वैदिक लौकिक जो कुछ कर्म करै वह सब भगवान् को ही अर्पण करै। यदि काम का वेग उठै तो अनन्यचित्तसे परमात्मा में ही रति करै, कि-वह सर्व श्रेष्ठ प्यारा हमें, मिलै यदि क्रोध करना हो तो उसी के ऊपर करै, कि-वह हमको क्यों नहीं मिलता? यदि अभिमान करना हो तो भी उसी के विषय का करना, कि-हमारे सर्वैश्वर्यवान् प्रभुकी समान मनोहर और कौन होसकता है? अथवा हमारे प्राणप्यारे की समान मनोहर और सुन्दर दूसरा कौन होसकता है? यदि लोभ हो तो भगवद्रूप संतोंके संग

का वेग बढ़ जायगा। धन वैभव की बातें न सुने, क्योंकि उसमें लोभ जाग उठेगा, नास्तिकों के चरित्र और उन की कुटिल तर्कनाओं को मत पढ़ो सुनो, क्योंकि—ऐसा करने में भगवान् का विश्वास विचलित हो जायगा, तुम्हारे शत्रुओं की बातें कोई सुनावै तो उधर को कान न लगाओ, क्योंकि—उनके बुरे व्यवहार की बातें सुनने पर तुम्हारा चित्त खिन्न और अप्रसन्न होकर क्रोधादि का उत्पन्न होना और तपःशक्ति का विचलित होना संभव है ॥ ६३ ॥

अभिमानदंभादिकं त्याज्यम् ॥ ६४ ॥

अपराधहेतूनादंभादीनां त्यागः कर्त्तव्यः ।

पदार्थ

(अभिमानदंभादिकम्) अभिमान दंभ आदि (त्याज्यम्) त्यागदेना चाहिये ॥ ६४ ॥

भावार्थ

अभिमान और दंभ यह दो भक्तिमार्ग के बड़े विरोधी हैं, क्योंकि—भक्ति सिद्ध होजाने पर भी 'मैं भक्त हूँ' मैं उपदेष्टा हूं, इत्यादि अभिमान और पूजा आदि में दिखावट के लिये बाहरी आडम्बररूप दम्भ का उदय होसकता है,इसी कारण भक्तिपन्थी को अपराध रूप दम्भ, अभिमान काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य आदि का त्याग करना चाहिये ॥ ६४ ॥

का, यदि मोह हो तो इष्टदेव भगवान् का और यदि मद हो तो भगवान् के गुणगान का करो, इत्यादि ॥ ६५ ॥

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदास्यनित्य-कांताभजनात्मकं वा प्रेम एव कार्यं प्रेम एव कार्यमिति ॥ ६६ ॥

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं—पूर्वं रूपत्रयस्य पृथग्भावं परित्यज्य नित्यं दास्यरूपं कान्ताभजनात्मकं नारीसेवनस्वरूप-निर्गुण-भक्तिसाध्यं प्रेम एव कर्त्तव्यम् ।

पदार्थ

(त्रिरूपभंगपूर्वकम्) पहिले तीन रूपों की भिन्नता को विनष्ट करके (नित्यदास्यनित्यकान्ताभजनात्मकम्) नित्य दासभाव और नित्य कान्तासेवनरूप (प्रेम—एव) प्रेम ही (कार्यम्) करना चाहिये (प्रेम एव) प्रेम ही (कार्यम्) करना चाहिये (इति) इस प्रकार ॥ ६६ ॥

भावार्थ

ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों में भेदभाव न रखकर, ब्रह्म, ईश्वर, जीव तीनों को एक मानकर सत्व, रजः तमः तीनों का एकत्र चूर्ण करके गुरु, भगवान् और भक्त तीनों को एक देख कर या सत् चित् आनन्द तीनों को एकीभूत करके प्रथम दासभाव से आरम्भ कर अन्तिम कान्तभाव की सेवा जिसके द्वारा प्राप्त हो उस प्रेम का साधन करे वह अपनी दृढ़ता और

भगवान् की कृपासे प्राप्त होता है, और किसी उपाय से प्राप्त नहीं होता श्री चैतन्य महाप्रभुने कहा है—'अयि नन्दतनूज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ। कृपया तव पादपङ्कजस्थित धूलीसदृशं विचिन्तय ॥' हे नन्दनन्दन ! तुम्हारा सेवक मैं घोर भवसागर में डूब रहा हूँ, मुझे तुम अपने चरण कमलों में स्थित धूलि की समान विचारो ॥ ६६ ॥

नवम अनुवाक ॥

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः ॥६७॥

एकांतिनः मदेकनिष्ठा भक्ताः मुख्याः श्रेष्ठाः।

पदार्थ

(एकांतिनः) एकांती (भक्ताः) भक्त (मुख्याः) श्रेष्ठ हैं ॥ ६७ ॥

भावार्थ

जिनकी भक्ति अन्तःकरण से एक मुझमें ही निबद्ध होती है, बाहरी आडम्बर के लिए नहीं होती, जो एक मात्र मेरा ही आधार रखते हैं वह मेरे एकान्ती वा एकानिष्ठ भक्त ही श्रेष्ठ हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुका उपदेश है, कि-"न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये, मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि" ॥ अर्थात्—हे जगदीश्वर ! मैं धन नहीं चाहता, परिवार नहीं चाहता, सुन्दरी नारी नहीं माँगता, कवित्वशक्ति भी नहीं चाहता , केवल यही चाहता हूँ कि—जन्म जन्म में आपकी अहैतुकी भक्ति हो ॥ ६७ ॥

कण्ठावरोधरोमाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयंति कुलानि पृथिवीं च ॥ ६८ ॥

कण्ठावरोधो गद्गदभावः, रोमः रोमोद्गमः, अश्रुः प्रेमाश्रुप्रवाहः। एतैरुपलक्षिताः परमप्रेमभरनाः भक्ताः परस्परमन्योन्यं लपमानाः परमेश्वरं कीर्त्तयंतः, कुलानि निजवंश्यान्, पृथिवीं च पावयन्ति पुनन्ति ॥

पदार्थ

(कण्ठावरोधरोमाश्रुभिः) कण्ठरोध, रोमाञ्च और अश्रुओंके द्वारा (परस्परम्) आपस में (लपमानाः) कीर्त्तन करते हुए (कुलानि) कुलों को (च) और (पृथिवीम्) पृथिवीको (पावयन्ति) पवित्र करते हैं ॥ ६८ ॥

भावार्थ

जिस समय भक्ति का प्रबल उभार होता है,जिस समय परम प्रेम से हृदय शिथिल होजाता है, जिस समय प्राण सच्चे अनुराग में भरजाते हैं, उस समय भक्त परस्पर भगवान् के गुण नाम आदि का कीर्त्तन करते हैं, कण्ठरोध होजाता है, शरीर पुलकायमान होकर रोम खड़े होजाते हैं, और न जाने किस के प्रेम में विह्वल होकर दोनों नेत्रोंमें से अविरल धारा बहने लगती है, ऐसे महापुरुष, शरीर, इन्द्रियें और मन के धर्म जाति संसार में मोहित नहीं होते, उनके मनमें

भोगवासना वा शरीर में भोगचेष्टा का उदय नहीं होता उनको जन्म कर्म आदिका देहाभिमान नहीं होता, उनके आत्मामें वा चित्तमें अपने पराये की भेदबुद्धि नहीं होती, वह त्रिलोकीभरकी विभूति की प्राप्ति होने पर भी भगवत्स्मरण को नहीं भूलते, उनका चित्त-भ्रमर कभी भगवान्के चरण कमलों को नहीं त्यागता। यह अवस्था बड़ी पवित्र और बड़ी मनोहर है, इस अवस्था का साधन बड़ा दुर्लभ है। ऐसे साधक जिस समय भक्ति में भरकर परस्पर कीर्त्तन करते हैं उस समय वह केवल अपने वंशधरों को ही नहीं, किन्तु भूमण्डल भर को पवित्र करते हैं,उन की भक्ति की पवन शरीरको लग जानेपर पत्थर के समान कठोर हृदयमें भी पवित्रता और भक्ति का संचार होजाता है, तभी तो श्रीचैतन्यमहाप्रभुने कहा है, कि-"नयनं गलदश्रुधारया, वदनं गद्गदरुद्धया गिरा। पुलकैर्निचितं वपुः कदा, तव नामग्रहणे भविष्यति॥" हे प्रभो! कब आप का नाम लेने में मेरे नेत्रों से अश्रुधारा वहेगी, कंठ गद्गद और शरीर रोमांचित होगा? ॥ ६७॥

तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्री कुर्वंति शास्त्राणि॥ ६९॥

ते भक्ताः तीर्थानि पावनस्थानानि तीर्थीकुर्वन्ति पुनन्ति, कर्माणि सुकर्मी कुर्वन्ति, शास्त्राणि अध्ययनेन सच्छास्त्री-कुर्वन्ति।

पदार्थ

(पितरः) पितर (मोदन्ति) प्रसन्न होते हैं(देवताः) देवता (नृत्यन्ति) नाचते हैं (च) और (इयम्) यह (भूः) भूमि (सनाथा) सनाथ (भवति) होती है ॥

(भावार्थ)

भक्तों के प्रभावसे भूलोक पवित्र होता है, पितृलोकनिवासी और देवताओंका आकाशमेंका सूक्ष्मतत्वपूर्ण तेजोमार्ग स्वच्छ होता है,भक्तका दर्शन पाकर सकल मर्त्य जीवोंके मन पवित्र होकर पितृकार्य और देवकार्यमें श्रद्धा होती है। याग, यज्ञ, पितृतर्पण आदि करनेपर, पितर और देवता तृप्त होते हैं भक्तों को और उनके चरित्र चेष्टा आदिको देखने पर भक्तोंके पितर और कुलदेवता अपनेको धन्य मानते हैं और भक्त को दर्शन देने के लिये भगवान् भूतलपर प्रकट तथा प्रकाशित होते हैं, इस लिये पृथिवी भी भक्त के अनुग्रह से सनाथ होती है "कुलं पवित्रं जननी च धन्या वसुन्धरा भागवती च धन्या। स्वर्गोऽपि तेषां पितरश्च धन्या येषां कुले वैष्णवनामधेयम्"॥७०॥

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधना-क्रियादिभेदः ॥ ७२॥

तेषु भक्तेषु जातिः जन्म, विद्या वेदादिपाठः, रूपं सौंदर्य कुलं धनं क्रियादीनां भेदः च न भवति।

पदार्थ

(तेषु) उन भक्तों में (जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि-

भेदः) जन्म, विद्या, रूप, कुल, धर्म, कर्म, आदि का भेद (न) नहीं (अस्ति) है ॥

भावार्थ

ब्राह्मण वा शूद्र, चाण्डाल वा म्लेच्छ, मनुष्य वा पशु जो भी जीव भक्तियुत होकर भगवान् का शरणागत होगा, भक्त-वत्सल भगवान् उसकी जाति विद्यादि की ओर को दृष्टि न देकर दर्शन देंगे, क्यो कि उन की तो प्रतिज्ञा है, कि—"यो मद्भक्तः स मे प्रियः" तथा भक्त भी परस्पर जाति विद्या आदि का गौरव लाघव नहीं रखते हैं, क्योंकि—भगवत्प्रेमी का लक्षण ही यह है, कि—"न यस्य जन्मकर्मभ्यां वर्णाश्रम-जातिभिः । सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥" अर्थात् जिस को इस शरीर में जन्म कर्म, वर्ण, आश्रम और जाति आदि अहंकार नहीं होता वह ही भगवान् का प्यारा भक्त है ॥ ७२ ॥

यतस्तदीयाः ॥ ७३ ॥

यतो हेतोः ते तदीयाः ।

पदार्थ

(यतः) क्योंकि (तदीयाः) उनके हैं ।

भावार्थ

जब तुम उन के हो और वह भी उन के हैं तथा जब तुम्हारी और उनकी एकावस्था बिना हुए दोनों को वह अपना करते ही नहीं और जब दोनों के हृदय में समानभाव से विराजमान हैं, तब दोनों में भेद कैसा ? ॥ ७२ ॥

दशम अनुवाक

वादो नावलम्ब्यः ॥७४॥

वादः प्रतिकूलो तर्कः, नावलम्ब्यः न स्वीकर्त्तव्यः ।

पदार्थ

(वादः) शुष्क तर्क (न) नहीं (अवलम्ब्यः) स्वीकार करना चाहिये ॥ ७४ ॥

भावार्थ

भक्तिमार्ग में वाद कहिये शुष्क तर्क को सर्वथा त्याग देय जिस का प्रत्यक्ष वा अनुमान नहीं होसकता उसमें तर्क करना निष्प्रयोजन है, विश्वास की दृढ़ता के लिये कहीं २ सत् तर्क कर लेय, परन्तु प्रतिकूल तर्क तो करै ही नहीं, क्योंकि–तर्क वितर्क वाद विवाद करने से मनमें दूसरे को जीतने का दुराग्रह होता है, और साथ २ तमोगुण का उदय होजाता है तमोगुण भक्ति का बाधक है, इसलिये वाद विवाद को त्यागदेय ॥

बाहुल्यावकाशत्वाद-नियतत्वात् ॥ ७५ ॥

वादे बहुलतया अवकाशः समयापव्ययो भवति तत्र भगवत्प्राप्तिनियमोऽपि नास्ति अतः स त्याज्यः ।

पदार्थ

(बाहुल्यावकाशत्वात्) अधिक अवकाश वाला होने से (अनियतत्वात्) नियमरहित होने से ।

भावार्थ

भगवत्तत्व को जानने के लिये वाद विवाद करना नितान्त निरर्थक है। तुम चाहे जितना वाद विवाद करो, चाहे जितनी शास्त्रीय चतुराई दिखाओ, चाहे जितना कूट तर्कों का जाल फैलाओ, तुम्हारी बुद्धि भगवान् को नहीं पावेगी "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" मन उसको न पाकर वाणी के सहित लौट आता है। व्यासजी ने कहा है "तर्काप्रतिष्ठानात्" वह तो मन और बुद्धि का अगोचर है कि—'नेति, नेति' वाक्यों के द्वारा वेदान्तने उस का वर्णन करने की चेष्टा की है, तुम्हारा वृथा वाद विवाद उस राज्य का क्या समाचार पासकता है ? एकमात्र भक्ति से ही जिस को पाया जाता है "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः 'भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः' उस को पाने के लिये वाद विवाद को छोड़ दो, केवल उस का विश्वास करो ॥ ७५ ॥

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तद्वर्द्धक-कर्माण्यपि करणीयानि ॥ ७६ ॥

भक्तिशास्त्राणि भक्तिप्रतिपदाकानि ग्रन्थानि मननीयानि विचारणीयानि, तद्वर्द्धकानि भक्तिवर्द्धकानि कर्माणि अपि करणीयानि ।

पदार्थ

(भक्तिशास्त्राणि) भक्तिशास्त्रों को (मननीयानि)

विचारे (तद्वर्द्धककर्माणि) भक्ति को बढ़ाने वाले कर्म (करणीयानि) करे।

भवार्थ

वाद विवाद को छोड़कर केवल सिद्धान्त स्वरूप भक्ति-शास्त्र में जो कुछ लिखा है उसका विचार करे। आचार्य और भक्तों के सिद्धान्त वाक्यों के गूढ़तत्त्वों को समझे, और भक्ति को बढ़ाने के लिये सत्संग, तीर्थयात्रा, भगवत्कथाओं का श्रवण, भक्तोंके साथ सम्भाषण, भगवत्सेवा और, गुरुशुश्रूषा आदि कार्य करे तो भक्ति बराबर बढ़ती रहेगी ॥ ७६ ॥

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥ ७७॥

पदार्थ

(सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते) सुख, दुःख इच्छा लाभादि शून्य (काले-प्रतीक्ष्यमाणे) कालकी प्रतीक्षा करते हुए (क्षणार्द्धम्-अपि) आधा क्षण भी (न) नहीं (नेयम्) बिताना चाहिये॥

भावार्थ

मनुष्य जीवन का समय है ही थोड़ा सा फिर उसका बहुतसा भाग, विवश होकर प्रकृति के नियमानुसार बालकपन शयन आदि में बिताना पड़ता है, कभी दुःख में

कभी सुख में और कभी विषयचिन्तवन में समय बीतजाता है, यदि भाग्यवश कभी वासनाओं का क्षय होकर तुम्हें सुख दुःखादि से रहित समय मिल जाय तो उसमें से आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिये, उस में परमपुरुषार्थरूप परम-प्रेम का अनुसन्धान करना चाहिये ॥ ७७ ॥

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादि-चारित्राणि परिपालनीयानि॥ ७८॥

पदार्थ

(अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्राणि) अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचार (परिपालनीयानि) पालन करने चाहियें ॥ ७८॥

भावार्थ

चित्त की मलिनता को दूर करने के लिये और सत्वगुण का उदय होनेके लिये अहिंसा, सत्य, शौच, दया और आस्तिकता आदि यम नियमों का आचरण यथाशक्ति करै ॥ ७८ ॥

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवा-नेव भजनीयः

पदार्थ

(सर्वदा)सब काल में (सर्वभावेन) सब भाव से(निश्चिन्तितैः)

मन के पार है, वही भक्ति राज्य में हृदय की तय २ में गुथा और जड़ा हुआ है, इसी से नारदजी कहते हैं-कि-भक्ति से श्रेष्ठ और कोई साधन नहीं है ॥ ८१ ॥

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्ति-स्मरणासक्ति-दास्यासक्ति-सख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति-तन्मयासक्तिपरमविरहासक्तिरूपैकधाप्येकादशधा भवति ॥ ८२ ॥

पदार्थ

(एकधा-अपि) एक प्रकार की भी (गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा) गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, और परमविहासक्ति रूप (एकादशधा) ग्यारह प्रकारकी (भवति) होती है ।८२।

(भावार्थ)

जो जिसको चाहता है वह उसकी सकल चेष्टा और

सकल अंगों को चाहता है, तथापि न जाने क्यों कोई २ किसी २ अंगकी सुन्दरता और किसी २ अंग की चेष्टा को विशेपरूप से प्रेम करते हैं, ऐसे ही भक्त भगवान् में सब प्रकार से आसक्त होते हैं, परन्तु कोई २ भक्त उनके किसी २ भाव में विशेष आसक्त होते हैं। जैसे राजा परीक्षित, नारद, हनुमान् और हरिगुण सुनने को दश सहस्र कान माँगने वाले राजा पृथु भगवान् के गुण—माहात्म्यासक्त भक्त हुए, कृष्णके बालरूप के प्रेमी नन्द उपनन्द यशोदा आदि और किशोर रूपकी प्रेमिका व्रजदेवियें पशु पक्षी आदि रूपासक्त भक्त थे। राजा पृथु पूजासक्त, प्रहलाद स्मरणासक्त, हनूमान् अक्रूर विदुर आदि दास्यासक्त, अर्जुन, सुग्रीव, उद्धव, कुवेर, सुबल, श्रीदामादि सख्यासक्त, व्रजगोपिकाएं कान्तासक्त, नन्द यशोदा कौशल्या दशरथ आदि वात्सल्यासक्त, राजा वलि आत्मनिवेदनासक्त, कौण्डिन्य शुकदेव आदि महायोगी अभेद-भाव से तन्मयासक्त, श्रीकृष्ण के वैकुण्ठ को पधारने पर गोपी और उद्धव आदि परम विरहासक्त भक्त कहलाये हैं॥ ८२॥

इत्येवं वदंति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्य-गर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणि-बलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्या-चार्याः॥ ८३॥

पदार्थ

(इति) इस भक्ति के स्वरूप को (एवम्) इसप्रकार (जनजल्पनिर्भयाः) लोकहास्य से निर्भय हुए (एकमताः) एक है मत जिनका ऐसे (कुमारव्यासशुकशांडिल्यगर्गविष्णुकौरिडन्यशेषोद्धवारुणिवलिहनुमद्विभीषणादयः) सनत्कुमार, व्यासजी, शुकदेव, शांडिल्य, गर्ग, विष्णु, कौरिडन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, वलि, हनुमान्, विभीषण, आदि (भक्त्याचार्याः) भक्ति के आचार्य (वदन्ति) कहते हैं ॥८३॥

भावार्थ

लोकों की बकवादका कुछ भय न करके सनत्कुमार, वेदव्यास, शुकदेवजी, शारिडल्य, गर्गाचार्य, विष्णुस्वामी, कौरिडन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, वलि, हनुमान्जी और विभीषण आदि भक्ति के सब आचार्यों ने एकमत होकर एकवाक्य से भक्ति के स्वरूप का इसप्रकार वर्णन किया है, उनके मत और व्याख्या के अनुसार नारदजी के भक्तिसूत्रों को चाहे कोई उपहास्य की दृष्टि से देखे, परन्तु वह उस से भयभीत नहीं हैं, इसीकारण साहस के साथ ऊपर को भुजा उठा कर सब मनुष्यों से कहते हैं, कि—हे जीवों ! यदि अपना२ कल्याण चाहते हो तो भक्तिमार्ग के पथिक बनो ॥ ८३ ॥

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स भक्तिमान् भवति स प्रेष्ठं लभते इति॥८४॥

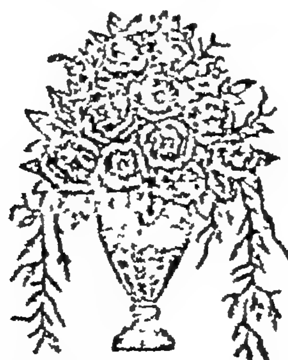
पदार्थ

(यः) जो (इदम्) इस (नारदप्रोक्तम्) नारदजी के कहे (शिवानुशासनम्) शिवोपदेश को (विश्वसिति) विश्वास करता है (श्रद्धत्ते) श्रद्धा करता है (सः) वह (भक्तिमान्) भक्तिवाला (भवति) होता है (सः) वह (प्रेष्ठम्) प्रियतमको (लभते) पाता है (इति) भक्तिसूत्र समाप्त हुए॥

भावार्थ

भक्ति की व्याख्या करके अब फल कहते हैं कि-यद्यपि और साधनों से भगवान् को ब्रह्मा, विष्णु, शिव, नारायण आदि रूप में पासकते हो, परन्तु भक्ति की साधना के बिना परम प्यारे रूप से उस को नहीं पासकते। जो इन नारदजी के सूत्रों पर विश्वास और श्रद्धा करके भक्तिमार्गमें चलेंगे, वह प्रियतमरूप में भगवान् का दर्शन पावेंगे, श्रुति ने भी भगवान् के प्रियतम रूपका वर्णन किया है-"प्रेयो वित्ता-त्प्रेयः पुत्रात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादान्तरतरं तदयमात्मा।" आत्मा (भगवान्) धन से पुत्र से तथा और सकल प्रिय वस्तुओं से भी अधिक प्रिय हैं॥ ८४॥

॥ पदार्थ और भावार्थ सहित भक्तिसूत्र समाप्त॥



॥ श्रीहरिः शरणम् ॥



शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र

अन्वयानुगत भाषाटीका सहित

प्रथम अध्याय—प्रथम आन्हिक

ॐ अथातो भक्तिजिज्ञासा ॥ १॥

(ॐ अथातः) भक्तिमार्ग में जानेके लिये साधारण अधिकार होनेके अनन्तर (भक्तिजिज्ञासा) भक्ति के तत्त्व को जानने की इच्छा होती है,अतः भक्ति मार्गका वर्णन करते हैं अर्थात् अथ और अतः शब्द का अर्थ यह है कि—शम दम आदि छः साधनों की प्राप्ति के अनन्तर ब्रह्मको जानने का अधिकार होता है, परन्तु भक्तिमार्ग में इस सबका कुछ प्रयोजन नहीं है। मुक्तिके लिये भक्तिमार्ग में पापी, पुण्यात्मा, ज्ञानी-अज्ञानी सबका एकसमान अधिकार है, परन्तु भक्तिमार्गके उपकारीपनको सब लोग नहीं जानते, न उसको जानने की इच्छा रखते हैं. इसीसे ग्रन्थकार शाण्डिल्य मुनि भक्ति की आलोचना करते हैं ॥ १ ॥

सा परानुरक्तिरीश्वरे ॥ २ ॥

(सा) वह भक्ति (ईश्वरे) ईश्वर में (परानुरक्तिः) परम अनुराग का नाम है अर्थात् धन जन आदि सकल विषय प्रपञ्च से चित्त की वृत्ति खिचकर जब निष्काम अनुरागका प्रवाह बहते बहते प्रबल वेगसे भगवान् में जाकर ठहर जाय तब उस ऐकान्तिक भाव का ही नाम भक्ति है, सच्ची भक्ति में स्वार्थ की गन्ध भी नहीं होती, भोग ऐश्वर्य आदि के स्वार्थ से भगवान् के भजन करने को यहां भक्ति शब्द से नहीं कहा है, यहां अहैतुकी भक्ति को ही भक्ति शब्द से कहा है ॥ २ ॥

तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् ॥ ३ ॥

(तत्संस्थस्य) भगवान् के ऊपर निर्भर रहनेवाले को (अमृतत्वोपदेशात्) मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसा श्रुति ने कहा है । अर्थात् जो सब कार्यों का भार भगवान् के ऊपर ही रखकर निश्चिन्त रहते हैं उनको किसी फलकी इच्छा ही नहीं होती, परन्तु जिस कर्मका जो फल है वह अवश्य ही होगा छान्दोग्य की श्रुति कहती है कि-"अमृतत्वं फलमुपदिश्यते" भगवान् के ऊपर निर्भर करने से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। शाण्डिल्य ऋषिने इस श्रुति का स्मरण करके ही तीसरे सूत्रकी रचना करी है। ऊपर के तीनों सूत्रों का स्पष्ट भाव यह है, कि-मोक्षको पानेके लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति यह तीन मार्ग हैं । ज्ञान और कर्ममार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग सुगम है, अन्धे और लूले आदि भी इस मार्ग का अवलम्ब लेकर अति ऊंचे मोक्षधाम में पहुंच सकते हैं । इस में कोई

कठिन तपस्या नहीं करनी पड़ती,जीवनभर शास्त्र नहीं पढ़ना पड़ता, कर्मकाण्ड के असंख्यों यज्ञ याग आदि नहीं करने पड़ते, भक्तिके सोतेमें एकवार गोता लगाने से ही मनुष्य विना क्लेश के संसारनदी के पार होकर मोक्षधाम में पहुँचजाता है। अपनी इच्छा को त्याग कर भगवान् की इच्छा के अधीन होजाने पर ही जीव अमृत होजाता है, उस समय संसारबन्धन टूट जाता है, सन्देह दूर होजाते हैं, ज्ञानदृष्टि खुलजाती है और सकल आसक्तियें एक भगवान् में ही जा जुटती हैं, उस समय जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, भगवान् में तन्मय होता है, उस समय जगत् ब्रह्ममय होता है और भक्त आप ही कह उठता है कि–'तत् त्वं असि' अर्थात् हे जीव ! तू वही ब्रह्म है ॥ ३ ॥

ज्ञानमिति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थितेः ॥४॥

(ज्ञानम्) ज्ञान भक्ति है (इति चेत् न) ऐसा कहो तो ठीक नहीं है, क्यों कि (द्विषतः, अपि) शत्रुका भी (तद-संस्थितेः) ज्ञान होसकता है, परन्तु उसको भक्ति नहीं कहा जासकता, अर्थात् कोई पुरुष अपने शत्रुको पूर्णतया जान-सकता है, उस के चरित्र और चेष्टा आदि को भी पूर्णतया जान सकता है, परन्तु ऐसा होने से वह उसमें प्रेम करने लगे यह नहीं होसकता। बहुतसे पुरुष जानते हैं, कि–ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है, वह ज्ञानस्वरूप सृष्टि-स्थिति-संहार-

कर्त्ता है, परन्तु ऐसा ज्ञान होने से ही उन की ईश्वर में प्रीति नहीं होती है, प्रीति का राज्य तो स्वतन्त्र ही है ॥४॥

तयोपक्षयाच्च ॥ ५ ॥

(तया) भक्ति करके (उपक्षयात् च) ज्ञान का क्षय होता है, इस कारण भी ज्ञान भक्ति नहीं है, अर्थात् जिसकी भक्ति होगी उसके साथ जितनी समीपता होती जायगी, और सायुज्य होगा, उतना ही उसके विषय का ज्ञान कम होता जायगा, जब तन्मयता होजायगी तब स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रहैगा, उस समय विषयी और विषयकर्त्ता और कर्म एक होजायगा, भक्त अपने को भूलकर भगवान् में डूब जायगा। भगवान् याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहा है कि-हे मैत्रेयी द्वैतज्ञान नष्ट होने पर कौन किसको जानै ? ॥ ५ ॥

द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः ॥६॥

(द्वेषप्रतिपक्षभावात्) द्वेष के प्रतिकूलभाव से (च) और (रसशब्दात्) रसशब्द से (रागः) राग कहा जाता है, अर्थात् सुःख दुःख शीत उष्ण आदि परस्पर द्वन्द्व हैं अर्थात् शीतका द्वन्द्व उष्ण और सुखका द्वन्द्व दुःख है, ज्ञान का द्वन्द्व अज्ञान और अनुराग वा राग का द्वन्द्व द्वेष है और यह जो राग वा अनुराग है, जिसको, कि-श्रुति में रस शब्द से कहा है वह ज्ञानवाचक किसी शब्द से भी सूचित नहीं होता, इसकारण भक्ति और ज्ञान एक नहीं हैं। परम अनुराग का नाम भक्ति है, अनुराग वा राग का उलटा शब्द द्वेष वा

अज्ञान नहीं है। एक पुरुष दूसरे को जान सकता है और उसके साथ द्वेष भी करसकता है, परन्तु एक पुरुष दूसरेको प्रेम भी करै और घृणा भी करै यह नहीं होसकता इस अनुरागको तैत्तिरीय श्रुति में रस शब्द से कहा है "रस ँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" ॥ ६ ॥

न क्रियाकृत्यनपेक्षात् ज्ञानवत् ॥७॥

(क्रियाकृत्यनपेक्षात्) क्रिया करनेवाले के सापेक्ष न होने से (ज्ञानवत् न) भक्ति ज्ञान की समान नहीं है अर्थात् ज्ञान क्रिया करनेवाले की अपेक्षा रखता है, परन्तु भक्ति किसीके कार्य की अपेक्षा नहीं रखती। ज्ञान और भक्तिको पानेके उपाय अलग २ हैं, भक्तिका स्वभाव विचित्र है। हम सदा ही देखते हैं, कि-एक पुरुष किसीसे प्रेम करता है परंतु क्यों प्रेम करता है वह इसका यथावत् कारण नहीं बतासकता, ऐसे ही बहुत से पुरुषों में हमारा प्रेम नहीं है परन्तु क्यों नहीं है इसका कारण हम नहीं बतासकते, भक्ति की मूलमें जो रहस्य है उसको केवल भक्त ही जान सकता है॥ ७ ॥

अतएव फलानन्त्यम् ॥ ८ ॥

(अतएव) इसीसे (फलानन्त्यम्) भक्तिका फल अनन्त है अर्थात् भक्तिके प्रवाह में शरीरको डालदेने पर तुम कहां जापहुंचोगे, इस बातको तुम आप ही नहीं जानते प्रेमामृत को पीकर भक्त की जो दशा होती है, वह उसको प्रकट नहीं करसकता, वह अपने में ही

कहा है इस कारण (इतरप्रपत्तिवत्) अन्य प्रपन्न की समान है (ज्ञानम्) ज्ञान (न) भक्ति नहीं है। अर्थात् गीता में कहा है, कि-" बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" भगवान् कहते हैं कि-ज्ञानवान्, मुझे अनेकों जन्मों के अनन्तर प्राप्त होता है, सब ही वासुदेव हैं, जो ऐसी ज्ञानदशा को पहुँचगए हैं वह महात्मा मिलने कठिन हैं। शाण्डिल्य ऋषि कहते हैं कि-भक्ति में ही मुक्ति है। ज्ञान में मुक्ति है ऐसा कहने वालों की तर्कों की शाण्डिल्य मुनि ने अयुक्तता दिखाई है। यदि कोई कहै, कि ज्ञान से भगवान् की प्राप्ति होती है, इस की मीमांसा करने के लिये ही शाण्डिल्य मुनि ने नवम सूत्र बनाया, वह कहते हैं, कि-प्रपत्ति शब्द का ज्ञान के विषय में व्यवहार होता है, भक्ति के विषय में नहीं होता है, यथा "कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः,,। ज्ञान के द्वारा क्रम से भक्ति होसकती है, मोक्ष नहीं होती गीता के पहिले श्लोक में कहा है, कि-बहुत से जन्मों के अन्त में ज्ञानवान् मुझे पासकता है इसलिये ज्ञानका साक्षात् फल मोक्ष नहीं है अर्थात् जन्म जन्मान्तर में ज्ञानी भक्तिको पाकर ही मोक्ष को पाता है। भक्ति का साक्षात् फल मोक्ष है। यह सब तर्क और उसका संक्षेप मे खण्डन इस सूत्र में कहा है। इतर अर्थात् मोक्ष की प्रपत्ति की समान ज्ञान की प्रपत्ति है। गीता में जिस की प्राप्ति लिखी है वह मोक्ष नहीं है, क्योंकि-उसमें बहुत जन्मों की आवश्यकता है, परन्तु "सर्वं वासुदेव" ऐसी भावना वाला पुरुष अर्थात् भक्त सुदुर्लभ है।

जिस वस्तु से मोक्ष से अन्य वस्तु की प्राप्ति होती है वह भक्ति नहीं होसकती और प्रपत्ति शब्द का व्यवहार मोक्ष-विषयक वस्तु के सिवाय अन्य में भी होता है, इस से भी सिद्ध होता है कि-ज्ञान भक्ति नहीं है ॥ ९ ॥

द्वितीय आन्हिक

सा मुख्येतरापेक्षितत्वात् ॥ १० ॥

(इतरापेक्षितत्वात्) औरों को भी इस की सहायता लेनी होती है, इसकारण (सा) वह भक्ति (मुख्या) मुख्य है। अर्थात् भक्ति ही सब मार्गों से श्रेष्ठ है, क्योंकि-और सब मार्गोंके यात्री भक्ति के मार्ग में को होकर मोक्षधाममें पहुँचते हैं। प्रेमशून्य ज्ञानी केवल अपनी तर्क का दास होकर सकल जीवनको दुःख में ही बिताता है, योगी प्रेमशून्य होने पर केवल शारीरिक क्लेश भोगने में ही जीवनलीला को समाप्त करदेते हैं; ज्ञानी योगी आदि सब को ही भक्ति चाहिये। यदि कर्मसे जगत्का उपकार करके मोक्षधाममें जाना चाहते हो तो "सर्वं वासुदेवः" ऐसा ज्ञान होना चाहिये ऐसा विनाहुए विश्व पर प्रेम नहीं होगा और विना प्रेमके निष्काम कर्म नहीं होगा सार यह है, कि-भक्ति चाहिये ॥ १० ॥

प्रकरणाच्च ॥११॥

(प्रकरणात् च) प्रकरणवश भी ज्ञान को भक्ति नहीं कहा जासकता अर्थात् छान्दोग्यकी प्रसिद्ध श्रुति है कि-"स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरति-

रात्मक्रीड़ आत्मनिथुन आत्मानन्दः स स्वराट् भवति ।" अर्थात् जो ऐसी दृष्टि करते हैं ऐसा मनन करते हैं ऐसा जानते हैं वह आत्मरति आत्मक्रीड़ आत्ममिथुन और आत्मानन्द होकर स्वराज्य सुख को भोगते हैं। आत्मा से भिन्न और किसी वस्तु में भी रति होने से मोक्ष नहीं होती। आत्मरति आदि सब ही शब्द भक्ति के वाचक हैं। आत्मरति आदि होने से ही स्वराट् होता है। "स्वयं राजते इति स्वराट्" जो स्वयं प्रकाशमान हो अर्थात् प्रकाश के लिये दूसरे की अपेक्षा न करे, विश्व के सब ही पदार्थ भगवान् के प्रकाश से प्रकाशित हैं, भगवान् स्वप्रकाश हैं। स्वप्रकाश वा तत्त्वमसि का अधिकारी होने के लिये रति वा भक्ति चाहिये। ज्ञान का आसन रति से नीचा है, ज्ञान में क्रम से रति हो-सकती है और 'सर्वं वासुदेवः' ऐसे भाव के लिये रति ही चाहिये, इस कारण भक्ति सब से श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

दर्शनफलमिति चेन्न तेन व्यवधानात्

(दर्शनफलम्) दर्शन मनन आदिका फल ही स्वराट् होना है (इति चेत् न) यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं है क्योंकि-(तेन व्यवधानात्) स्वराट् शब्द से दर्शन मनन आदि को व्यवधान है अर्थात् भक्तिवाचक शब्द और स्वराट् शब्द के मध्य में व्यवधान न होने से स्वाराज्य की प्राप्ति होती है ऐसा श्रुति का आशय है ॥ १२ ॥

द्दष्टत्वाच्च १३

(दृष्टत्वात्, च) मनुष्य के जीवन में यह देखा भी जाता है, कि—ज्ञान से भक्ति श्रेष्ठ है। ज्ञान भक्ति को पाने का एक साधन मात्र है। किसी के साथ तुम्हारा परिचय हुआ तुम ने उस को जाना उससे प्रेम किया, इस में प्रेम करना तो तुम्हारी वाञ्छित वस्तु हुई और ज्ञान उसका उपायमात्र हुआ तुम जिस से प्रेम करोगे, उसको थोड़ा बहुत जानना चाहिये जिसके सम्बन्धका ज्ञान नहीं होगा, उस से तुम प्रेम करही नहीं सकते। कहीं ऐसा भी होता है, कि—ज्ञान का परिणाम प्रेमभाव न हो उसका परिणाम द्वेषभाव वा घृणा भी होसकती है ॥ १३ ॥

अत एव तद्भावाद्वल्लभीनाम् ॥ १४ ॥

(अतएव) इसीसे (तद्भावात्) ज्ञान का अभाव होने पर भी (वल्लभीनाम्) गोपिकाओं को मोक्षकी प्राप्ति हुई अर्थात्—गोपिकाओंको ज्ञान नहीं था, परन्तु उन्होंने, भक्तिराज्यमें परम-श्रेष्ठ स्थान पाया है। व्रजगोपियों का कृष्णप्रेम किसी से छुपा नहीं है, लोगोंने अज्ञानवश गोपियों के कृष्णप्रेम की अनेकों प्रकार से व्याख्या की है, प्राचीन ग्रन्थोंका ठीक२ अर्थ समझ में न आने से गोपियों के प्रेमके अनेकों कल्पित अर्थ कर डाले हैं। भक्तिराज्य में गोपियोंका स्थान बहुत ऊँचा है। स्वयं चैतन्यदेव ने गोपियों को अपना गुरु माना। गोपियों के प्रेममें कामकी गन्ध होती तो चैतन्यदेव सरीखे महापुरुष गोपियोंके दिखाये हुए मार्गका अनुसरण कदापि नहीं करते, भगवान् की आराधना अनेकों भाव से कीजाती है—"पितेव

पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्" उनको पिता मानकर,सखा मानकर प्रिय मानकर, उपासना कीजाती है। नन्द यशोदा भगवान् में पुत्रवात्सल्य दिखला कर मोक्षको प्राप्त हुए। अर्जुनने सखारूप से उनका भजन करके संसार-बन्धन को छिन्न भिन्न करडाला। उद्धव, विदुर आदि ने उनको प्रभु मान दासभाव से सेवा करके अमरपद पाया नारद सनकादि महर्षि उनको शुद्धचैतन्य जान उपासना करके अमर होगए। गोपियों ने पतिभाव से भगवान्का भजन किया। विष्णुभक्त इस भावको मधुरभाव कहते हैं। मधुरभाव के अनुचित व्यवहार को देखकर उसको दूषित नहीं कहाजासकता। संसार में सब ही बातों का अनुचित व्यवहार होता है। परन्तु सब भावोंमें सार बात यह है कि-तुम जीवपने की क्षुद्रता को उस की असीमता में डुबाकर उसके साथ अपने को एकाकार करदो, गोपियें कृष्णमयी थीं उनको अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध ही नहीं था, यह भक्ति की पराकाष्ठा है ॥ १५ ॥

भक्त्या जानातीति चेन्नाभिज्ञप्त्या साहाय्यात् ॥ १५ ॥

(भक्त्या) भक्ति से (जानाति) ज्ञान को प्राप्त होता है (इति,चेत् न) यदि ऐसा कहो तो यह ठीक नहीं है क्यों कि (अभिज्ञप्त्या साहाय्यात्) ज्ञान की प्रकटता से भक्ति की सहायता होती है अर्थात् गीता के १८ वें अध्याय के

लभते पराम् ॥" अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त होता हुआ मनुष्य प्रसन्नात्मा होकर जब न किसी का शोक करता है न कुछ चाहता है तब सर्वत्र समदृष्टि होने पर मेरी परा भक्ति को पाता है अतएव भक्ति मुख्य और सब से श्रेष्ठ है ज्ञान भक्ति का एक उपाय है ॥ १६ ॥

एतेन विकल्पोऽपि प्रत्युक्तः ॥१७॥

(एतेन) इससे (विकल्पः, अपि) विकल्प भी (प्रत्युक्तः) दूर किया गया। अर्थात् भगवान् के वाक्य से यही सिद्ध हुआ कि-ज्ञान आदि सब ही साधन भक्तिरूप साधन की सामग्री हैं। ज्ञान और भक्ति दोनों ही साध्य और साधनभेद से दो प्रकार के हैं। जिस ज्ञान से वस्तु का परिचय और उपलब्धि होती है वह साधन ज्ञान है और ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता के अतिरिक्त जो विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप ज्ञान है वह साध्यज्ञान है यही ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है। जिस भक्ति में शास्त्र आदि को पढ़ने में और देवपूजन आदि में प्रवृत्ति होती है और जिस भक्ति से ज्ञान को पाने की अभिलाषा उत्पन्न होती है उस को साधन भक्ति वा गौणी भक्ति कहते हैं और ज्ञान योग आदि के द्वारा भगवान् का साक्षात्कार होकर मुक्ति को पाने पर भगवान् की कृपादृष्टि से सिद्धात्मा की तन्मय होने के समय जिस प्रीति का संचार होता है उस का नाम पराभक्ति वा साध्य भक्ति है। बहुत से लोग—ज्ञान बड़ा है या भक्ति बड़ी है? इस बात को लेकर विवाद किया करते हैं। हमारा सिद्धान्त यह है, कि—साधन ज्ञान से साध्य भक्ति की प्राप्ति होती है और साधन

प्रकाशन्ते महात्मनः ॥" अर्थात् जिसकी देवमें परमभक्ति है, और जो गुरु में भी तैसी ही भक्ति रखता है महात्माओं के मत में वह इस सम्पूर्ण फलको पाता है। यहां देवभक्ति और गुरुभक्ति को एक समान कहा है इस कारण वह पराभक्ति भी नहीं है ॥ १८ ॥

योगस्तूभयार्थमपेक्षणात्प्रयाजवत १९

(योगस्तु) योग तो (प्रयाजवत्) प्रयाज की समान (अपेक्षणात्) अपेक्षित होने से (उभयार्थम्) दोनों के निमित्त है अर्थात्—योग प्रयाज की समान ज्ञान और भक्ति दोनों की सहायता करता है। प्रयाज कोई स्वतन्त्र याग नहीं है, वह वाजपेय यज्ञादि की सहायतामात्र करता है अतः केवल प्रयाज से कोई कुछ फल नहीं पाता, परन्तु सहायक होने से प्रयाज की आवश्यकता है, शाण्डिल्य कहते हैं, कि योग भी ऐसा ही है, यह ज्ञान और भक्ति की सहायतामात्र करता है क्योंकि—ज्ञान और भक्ति दोनों ही के लिये चित्त की एकाग्रता चाहिये ॥ १९ ॥

गौण्या तु समाधिसिद्धिः ॥ २० ॥

(गौण्या तु) गौणी भक्ति से तो (समाधिसिद्धिः) समाधि की सिद्धि होती है वह गौणी भक्ति है, मुख्य नहीं है। योगसूत्रमें लिखा है, कि—ईश्वरप्रणिधान को यदि भक्ति मान लिया जाय तो भक्ति गौण होजायगी और समाधि-सिद्धि मुख्य होजायगी, परन्तु शांडिल्य मुनि इस सूत्रमें

कहते हैं कि-ईश्वरप्रणिधान भक्ति नहीं है, किंतु चित्त की स्थिरता का एक उपाय है, यह बात पतञ्जलि के पचीसवें सूत्र से ही सिद्ध होती है, "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" फिर छब्बीस और सत्ताईसवें सूत्रमें कहा है "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्,, "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" तदनन्तर कहा-"तस्य वाचकः प्रणवः । तज्जपस्तदर्थभावनम्,, अर्थात क्लेश कर्म आदि के स्पर्श से रहित पुरुषविशेष को ईश्वर कहते हैं,उसमें सर्वज्ञ बीज अत्यन्त अधिकता ... स्थित है और वह काल से अनवच्छिन्न होने ... सब का ही गुरु है। प्रणव अर्थात् ओंकार ... वाचक है और समाधि प्राप्ति के लिये बार २ उस का जप और उस के अर्थ की भावना करनी चाहिये । समाधि वा चित्त की स्थिरता से भक्ति में सहायता होती है परन्तु भक्ति की अपेक्षा उसका स्थान नीचा ही रहता है॥ २०॥

हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात्सङ्गवत् ॥ २१ ॥

(रागत्वात) राग नाम वाली होने से (हेया) त्यागने योग्य है (इति चेत् न) यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं है क्योंकि-(सङ्गवत्) सङ्ग की समान (उतमास्पदत्वात) भक्ति का आश्रय उत्तम है। अर्थात्-जैसे सङ्गमात्र दूषणीय नहीं है किन्तु असत्सङ्ग ही दूषणीय है, तैसे उत्तमपात्र में अनुराग होना दूषणीय नहीं है योगशास्त्र में राग को दोष

माना है—अविद्या (अज्ञान) अस्मिता (अहंज्ञान) राग द्वेष और अभिनिवेश इन सब को क्लेशरूप और त्यागने योग्य कहा है, परन्तु शाण्डिल्य कहते हैं, कि—भक्ति अनुराग-रूप होनेसे त्याज्य नहीं है, स्त्री पुरुषों के अनुराग की समान विषयों के अनुराग में दुःखप्राप्ति की आशङ्का होने से उस को असत्सङ्ग की समान त्याज्य कहा है, परन्तु ईश्वरानुराग परमसुखदायक और मनुष्यों का प्रार्थनीय है इसकारण सत्सङ्ग की समान वह त्याज्य नहीं है ॥ २१ ॥

तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्य-शब्दात् ॥ २२ ॥

(तदेव) वह भजन अर्थात् भक्ति ही मुख्य है क्योंकि (कर्मिज्ञानियोगिभ्यः) कर्मठ ज्ञानी और योगियों से (आधिक्यशब्दात्) भक्त अधिक है ऐसा गीता का उप-देश है। गीता के छठे अध्याय में कहा है—"तपस्विभ्यो-धिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्मा-द्योगी भवार्जुन ॥ योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥" अर्थात् तपस्वी ज्ञानी और कर्मठों से भी योगी श्रेष्ठ है अतएव हे अर्जुन! तुम योगी बनो योगियोंमें भी जो अन्तरात्मा के साथ संगत होते हुए और श्रद्धायुक्त होकर मेरी भक्ति करते हैं वही युक्ततम हैं इससे सिद्ध हुआ, कि—भक्ति ही सब से श्रेष्ठ है। यह ठीक है, कि—योग, कर्म, ज्ञान सब ही तुम्हें गन्तव्य मार्ग

की ओर को लेजायँगे, परन्तु पीछे से सब ही मार्ग विस्तीर्ण भक्तिमार्ग में जाकर मिल गए हैं इस कारण अन्त में भक्तिमार्ग की ही शरण लेनी होगी। ज्ञानी अनेकों समय तर्कों की उलझन में पड़ जाते हैं, तपस्वी शरीर पर कष्ट सहने को ही जीवन का परम लाभ मान बैठते हैं कर्मकर्त्ता कर्म का फल न पाकर अनेकों समय श्रद्धाहीन हो बैठते हैं, परन्तु भक्ति की शक्ति अनिर्वचनीय है, इसके प्रवाह में चित्त को बहादेनेसे यह अपने आप ही गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देती है॥ २२॥

प्रश्ननिरूपणाभ्यामाधिक्यसिद्धेः २३

(प्रश्ननिरूपणाभ्याम्) प्रश्न और उत्तर के द्वारा (आधिक्यसिद्धेः) भक्ति को गौरव दिया है इसकारण भक्ति प्रधान है। अर्थात्—गीता में अर्जुनने प्रश्न किया है, कि— "एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः,, अर्थात्—अर्जुन ने कहा, कि— हे भगवन्! जो सततयुक्त भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त तथा अक्षर की उपासना करते हैं इन में अधिक योगवित् कौन है? इस पर भगवान् ने उत्तर दिया कि—"मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः। ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व-

भूतहिते रताः ॥ क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते । ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥" अर्थात्–जो मुझमें मन लगा नित्य युक्त होकर परम श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करते हैं मैं उन को ही अधिक योगवित् मानता हूँ। जो अनिर्देश्य अव्यक्त, सर्वग, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव अक्षर की उपासना करते हैं वह ही सकल इन्द्रियों का संयम करके सर्वत्र समबुद्धि और सकल प्राणियों के हित में तत्पर होकर मुझे प्राप्त होते हैं। जिनका चित्त अव्यक्त में आसक्त है उन को क्लेश अधिक होता है, क्योंकि–प्राणियों को अव्यक्त मार्ग का प्राप्त होना बड़ा ही दुःखजनक है। जो सकल कर्म मुझे अर्पण करके मेरे ही भरोसे पर रहते हैं तथा अन्य सकल योगों को त्याग मेरा ही ध्यान और मेरी ही उपासना करते हैं, मुझ में ही चित्त लगाने वाले उन सबों का मैं मृत्युसंसारसागर से शीघ्र ही उद्धार करता हूँ। इस भगवान् के वाक्य से भक्ति की ही प्रधानता सिद्ध होती है २३

नैव श्रद्धा तु साधारण्यात् ॥ २४ ॥

(श्रद्धा तु) श्रद्धा तो (साधारण्यात्) साधारणभाव से प्रयुक्त होने के कारण (नैव) भक्ति नहीं है, अर्थात् कर्म में श्रद्धा उपासनामें श्रद्धा, शास्त्र को सुनने में श्रद्धा इस

प्रकार श्रद्धा का साधारणपन देखने में आता है इस कारण श्रद्धा को भक्ति नहीं कहसकते, श्रद्धा भक्ति की सहायतामात्र करती है।

तस्यां तत्त्वे चानवस्थानात् ॥२५॥

(तस्यां) तिस श्रद्धा के (तत्त्वे च) भक्तिरूप होने में भी (अनवस्थानत्) अनवस्था दोष आता है अर्थात् कार्य और कारण के अविश्राम का नाम अनवस्था है "उपपाद्योपपादकयोरविश्रान्तिः" गीता कहती है, कि-"श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः। जो श्रद्धावान् होकर मेरी भक्ति करता है, मैं उस को ही युक्ततम मानता हूँ। इस में श्रद्धा भक्ति का एक उपायमात्र है इस कारण वह भक्ति नहीं होसकती ॥ २५ ॥

ब्रह्मकाण्डन्तु भक्तौ तस्य।नु ज्ञानाय सामान्यात् ॥ २६ ॥

(ब्रह्मकाण्डन्तु) ब्रह्मकाण्ड तो (भक्तौ) भक्ति के विषय में प्रयोग किया जाता है (तस्य) उस के (अनु) पीछे है (ज्ञानस्य) ज्ञान की (सामान्यात्) सामान्यता देखने में आती है अर्थात् ज्ञानकाण्ड की व्याख्या होती है, ब्रह्मसूत्र में कहा है कि-"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"। यहां ज्ञानकाण्ड की व्याख्या के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा का आरम्भ है, यह ब्रह्मजिज्ञासा भक्ति के विना नहीं होसकती इस

कारण भक्ति का वर्णन करने के लिये ब्रह्मकाण्ड से ज्ञान-काण्ड की सामान्यता दिखाई ॥ २६ ॥

प्रथम अध्याय समाप्त

—०—

द्वितीय अध्याय प्रथम आन्हिक

बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत्

(आविशुद्धेः) परिशुद्धि पर्यन्त (अविघातवत्) धानों को कूटने की समान (बुद्धिहेतुप्रवृत्तिः) ज्ञानहेतुक प्रवृत्ति को आवश्यकता है अर्थात् जैसे जब तक धान पर से भूसी दूर होकर चावल बाहर न निकल आयें तबतक उन धानों को बार २ कूटने की आवश्यकता है तैसे ही जब तक चित्त की शुद्धि न हो तबतक भगवद्विषयक बुद्धि में श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा प्रवृत्ति उत्पन्न करना चाहिये, श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान आदि के द्वारा वारम्वार तन्मय होने की चेष्टा करने २ भक्ति की विशुद्धता प्राप्त होजाती है २७

तदङ्गानाञ्च ॥ २८ ॥

(तदङ्गानाञ्च) उस के अङ्गों का भी अनुष्ठान करना चाहिये अर्थात्-जबतक चित्त की शुद्धि न हो तबतक ब्रह्मविषयिणी, बुद्धि के अङ्ग, गुरुसेवा, शास्त्रश्रद्धा आदि का अनुष्ठान भी करना चाहिये ॥ २८ ॥

तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात् २९

(काश्यपः) काश्यपाचार्य (परत्वात्) जीव और आत्मा

से पर होने के कारण (ताम्) उस बुद्धि को (ऐश्वर्यपराम्) भगवदैश्वर्यपरायण कहते हैं ॥ २६ ॥

आत्मैकपरां वादरायणः ॥ ३० ॥

(वादरायणः) वादरायण आचार्य (आत्मैकपराम्) एक आतमपरायण कहते हैं ॥ ३० ॥

उभयपरां शाण्डिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम् ॥ ३१ ॥

(शब्दोपपत्तिभ्याम्) वेदादिशास्त्र और युक्तियों से (शाण्डिल्यः) शाण्डिल्य आचार्य (उभयपराम्) उभयपरायण कहते हैं अर्थात्–उनतीसवें, तीसवें और इकतीसवें सूत्र का अभिप्राय यह है, काश्यप कहते हैं, कि–मुक्ति के लिये भगवान् के ऐश्वर्य का ध्यान करना चाहिये अर्थात् भक्ति ऐश्वर्यपरा है। वादरायण कहते हैं, कि–भक्ति आत्मैकपरा है अर्थात्–जीवात्मा और परमात्मा इस भेदज्ञान को नष्ट करके आतमचिन्तवन करना चाहिये तथा शाण्डिल्य वेदादि शास्त्र और युक्तियों के बल पर कहते हैं, कि–भक्ति उभयपरा है अर्थात् मुक्ति को पाने के लिये आतमचिन्तवन और भगवान् के ऐश्वर्य का चिन्तवन दोनों की ही आवश्यकता है। काश्यप द्वैतवादी हैं, उन के मत में ब्रह्म और जीव भिन्न २ हैं। वादरायण अद्वैतवादी हैं उन के मत में सब ही ब्रह्ममय है, जीव और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं है। काश्यप कहते हैं, कि–मुक्ति पाने के लिये ईश्वर का ही ध्यान

करना चाहिये। इस संसार में जीव बार २ जन्म और मरण की ताड़नाएं सहते हैं, ईश्वर की कृपा के विना उनका निस्तारा नहीं होता उन के चरणों में पड़े रहो, उन का गुणकीर्त्तन करो, सदा उन का ध्यान करो वह तुम्हारे पापों को धोकर अमरधाम में लेजाएँगे, उन की कृपा ही तुम्हारा एकमात्र आश्रय है। उन की कृपा के विना तुम अपने आप कुछ भी नहीं करसकते। आज तुम पृथिवी के राजा होसकते हो, परन्तु एक मुहूर्त्त में ही तुम्हारे सैंकड़ों चेष्टा करने पर भी तुम मार्ग के भिखारी होसकते हो। आज जो भिखारी है उस को दूसरे दिन अनन्त धनभण्डार का स्वामी देखते हैं। रोग में, शोक में, राष्ट्र विप्लवमें, प्रजाविद्रोह में, रण में, वन में कहीं भी तुम केवल अपने भरोसे पर कृतकार्य नहीं होसकते, केवल भगवान् की कृपा से ही तुम्हारी कार्यसिद्धि होसकती है, तुम को उन का ही भरोसा रखना चाहिये यही काश्यप का मत है। वादरायण कहते हैं, कि–सब ही ब्रह्म है 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'। अज्ञान वा अविद्या के कारण से हम इस सत्य को नहीं पासकते। आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। जब आत्मा ही ब्रह्म है तब आत्मचिन्ता के सिवाय और चिन्ता करना निरर्थक है. इस कारण अविद्या की जंजीर को तोड़ डालो और स्वाधीनता की विशुद्ध वायु का सेवन करके मुक्तिराज्य में पहुँचजाओ। दोनों का लक्ष्य मुक्ति ही है. परन्तु एक भगवान् की चिन्ता को और दूसरा आत्मचिन्ता को मुक्ति का उपाय बताता है. कुछ ध्यान देकर देखने पर प्रतीत होगा, कि–इस मतभेद में केवल

बातों का ही पेंच है, भगवान् ही यदि तुम्हारा लक्ष्य हैं वह ही यदि तुम्हारे जीवन का आदर्श हैं और यदि तुम अपने को उन के अनुकरण से गठन करने का आरम्भ करना चाहते हो तो समय पाकर तुम्हारी तन्मयता होगी, उस समय तुम्हारा अस्तित्व विश्वंभर के अस्तित्व में डूबजायगा उस समय उपास्य उपासक का भेद नहीं रहैगा, जीवात्मा ब्रह्मरस में डूब जायगा बादरायण आत्मचिन्ता के पक्षपाती हैं,ज्ञान से आत्मा को विशुद्ध किया जाता है, मोहके आवरण को हटाकर फेंक दिया जाता है, अविद्या के विलीन होने पर जीव का द्वैत-ज्ञान नष्ट होजाता है, उस समय जीव परमधाम में जा पहुँचता है।

शाण्डिल्य ऋषि ने इन दोनों मतों की एकवाक्यता करी है, उन का कहना है, कि–जीव और ब्रह्म में जो भेद है वह भी सत्य है। यह बात सुनने में चाहे जैसी मालूम हो परन्तु जरा विचार कर देखने से यह युक्तियुक्त प्रतीत होगी, हर एक विषय में एक नित्य सत्य होता है, परन्तु उस के स्वरूप को जानने का हमारा अधिकार नहीं है। देशकाल के परिमाणसे बाहर के सत्य के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि हम देश और काल से बँधेहुए हैं, हम केवल इतना ही कहसकते हैं कि–इस को हम सत्य मानते हैं, सब ही मतों में कार्य करने वाला एक भाव है, तुम ने कहा, कि–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब ब्रह्म ही है, ऐसा क्यों कहा! यदि ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु को मानते हो तो ब्रह्म का ब्रह्मत्व ही नहीं

रहता। असीमता में और कुछ रह ही नहीं सकता, इस कारण यदि सब ही ब्रह्म हुआ तो तुम्हारा आत्मा भी ब्रह्म होगया इस दशा में जीवकी सत्ता की स्वतन्त्रता नहीं रही। यदि चोर कहने लगै कि-इस में मेरा कुछ अपराध नहीं है। इस बात की तर्कमात्र ही होसकती है, व्यवहार में इस से काम नहीं चलसकता, चोरी करने से अवश्य ही राजदण्ड स्वीकार करना होगा, वन्दीखाने में जाना पड़ेगा। व्यवहार में अपने कार्य के उत्तरदाता तुम अवश्य हो। उस में ब्रह्म की दुहाई देने से काम नहीं चलेगा इस कारण व्यवहारदशामें जीव और ब्रह्मका भेद बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ैगा। ज्यामिति में जिन सत्योंको हम मानलेते हैं वह वास्तव में सत्य नहीं होते, क्योंकि-एक साथ समतल क्षेत्र सर्वत्र नहीं मिल सकता और एक साथ समतल क्षेत्र विना मिले त्रिभुज के तीन कोने दो समकोण की समान नहीं होंगे और एकबारगी समतल क्षेत्र विना मिले दो समान्तराल रेखाएं बढ़नेपर किसी स्थान पर जाकर नहीं मिलेंगी, ऐसा हो नहीं सकता। पुराने लोगों का विश्वास था, कि-पृथिवी इस विश्व के केन्द्र में है और ग्रह नक्षत्रादि पृथिवी के चारों ओर घूमते हैं। आजकल के लोगों का विश्वास है कि-पृथिवी सौर मंडल की एक ग्रह है और सूर्य के चारों ओर घूमती है। प्राचीन लोग अपने मत को अभ्रान्त सत्य समझते थे और हमारा मत अभ्रान्त सत्य है। कुछ दिनों के बाद और एक नया मत खड़ा होकर हमारे मत को भ्रान्त सिद्ध कर सकता है, इसलिये किसी सत्य को भी त्रिकाल के लिये सत्य नहीं कहाजासकता। सामयिक ज्ञान

के द्वारा ही उस समय के सत्य का विचार होता है । जो हमारे ज्ञान में सत्य है वह हमारे लिये ही सत्य है, जो तुम्हारे ज्ञान में सत्य है वह तुम्हारे लिये ही सत्य है, कुछ दिनों के अनन्तर तुम हमारे मत में आसकते हो और हम तुम्हारे मत में आसकते हैं अथवा यह कहलो कि—हम तुम्हारी भूल दिखा सकेंगे और तुम हमारी भूल दिखासकोगे, परन्तु अधिकार के भेदसे ज्ञान की न्यूनाधिकता और ज्ञान के भेदसे सत्य का भेद चिरकालतक रहैगा । इस कारण यह बात कहीजासती है, कि—व्यावहारिक जगत् में जीव की असीम उन्नति के मार्ग में तिस २ अवस्था के ज्ञान में जो सत्य हो उस को ही सत्य कहाजाता है और क्रमोन्नति के क्रम से जो ऊपर पहुँचजाते हैं वह ही नीचे वालों का भ्रम देखसकते हैं परन्तु नीचे वालों को अपने ज्ञान से बाहर कोई काम करने का उपाय नहीं है, इस से सिद्ध हुआ, कि—ज्ञान के अनुसार ही सत्य का निश्चय होता है। वेदान्त के मायावाद की आलोचना करके देखो। मायावाद कहता है, कि—जगत् मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है । जगत् मिथ्या होने से स्त्री, पुत्र, कन्या, ज्ञाति, माता, भ्राता, बहिन सब ही मिथ्या हैं। जगत् के मिथ्या होने से घर, द्वार, धन, सम्पत्ति, गौ, घोडा, हाथी, आदि सब ही मिथ्या है, परन्तु किसी का पुत्र मरा कि—वह शोक से व्याकुल होगया, मायावाद केवल कहने को ही रहगया । आज किसी की सम्पत्ति नष्ट हुई कि—वह दुःखसागर में डूब गया, मायावाद को उस समय मन में भी जगह नहीं मिली इस लिये व्यावहारिक जगत् में मायावाद नहीं टिक सकता,

तो क्या मायावाद सर्वथा भूल ही है ? नहीं, ऐसा भी नहीं है। अधिकारभेद से यह सत्य भी है और मिथ्या भी है।

व्यावहारिक जगत् में हम क्या देखते हैं ! आज किसी वस्तु को अपने जीवनका एकमात्र अवलम्बन समझते हैं उस वस्तु को ही कल को निरर्थक समझ कर छोड़ने के लिये तयार हैं, जिन लोगोंने दांव और पाशोंका खेल खेला है वह समझसकते हैं उस समय उनको खेल की समान संसार का कोई पदार्थ भी प्यारा नहीं था। ऐसा भी सुना गया है कि-पुत्र मरने को पड़ा है, परन्तु पिता चौसर शतरंज के खेल में लग रहे हैं, लड़कियें गुड़ियें लेकर खेलते २ तन्मय होजाती हैं। गुड़ियों को न्हवाती हैं, खिलाती हैं। और सुलाती हैं लड़कियें गुड़ियें लेकर जो लीला करती हैं, युवती स्त्रियें अपने पुत्र कन्याओं को लेकर वही लीला करती हैं, वही स्त्रियें जब बूढ़ी होती हैं तब वह पुत्र कन्यारूप पुतलियें उन को तैसा आनन्द नहीं देतीं किन्तु उस समय यह परलोक की चिन्ता में मग्न होती हैं, नीचे की श्रेणियों में जो सत्य होता है ऊपर की श्रेणियों में पहुँचने पर वही मिथ्या माया होती है। कन्याओं के लिये गुड़ियें खेलना जीवन का एक प्रधान काम था। परन्तु कन्या माता नाम को पाकर उस गुड़ियों के खेल को निरर्थक काम समझने लगीं, इस लिये जो जिस श्रेणी में है उस श्रेणी के ज्ञान के द्वारा ही उसको सत्य का निश्चय करना होता है और ऊपर की श्रेणी में चढ़ने पर नीचे की श्रेणी में वह मिथ्या प्रतीत होने लगता है, इस लिये प्रत्येक ही अवस्था का ज्ञान एक

हिसाव से मिथ्या और एक हिसाव से सत्य है। विकाश की ओर को बढ़नेवाला आत्मा व्यावहारिक जगत् में कर्मके द्वारा जब ज्ञान प्राप्त करता है और ऊपर को चढ़ता है तब वह कल्ल के सत्य को पीछे रखकर आजके सत्यको अपना सर्वस्व मानता है, इसीप्रकार आगामी कल्ल के दिन आज के सत्यों को मिथ्या जानकर नए सत्यपर पहुँच सकेगा, इस प्रकार चलते २ जब वह परमपद पर जो पहुँचेगा तब पीछे के सब ही सत्यों को मिथ्या कह सकेगा। जब तक यह परम-पद पर नहीं पहुँचता है तब तक इस को अपने विकाशके लिये सामायिक सत्य को स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ता है और वह सत्य ही उस समय उस के लिये सत्य होता है। हम अपने २ जीवन में अनुभव करते हैं, कि—एक समय जो सत्य हमारे जीवन के उपयोगी थे उनको त्यागकर अब हम नए सत्यों के द्वारा जीवन का काम चलाते हैं। जब गृहस्थी कर्मकांडको त्यागकर संन्यास ग्रहण करता है, यज्ञोपवीत, शिखा, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, सब को त्यागदेता है और सोऽहं सोऽहं कहने लगता है. यह बात यदि मुखसे कहने मात्र को ही है तो सोऽहं वाक्य मिथ्या है, परन्तु जिस अवस्था में जीव सोऽहं का अधिकारी होता है, यदि वह उस अवस्थाको पाजाता है तो सोऽहं वाक्य सत्य है।

जीव और ब्रह्म का भेद है, यह बात भी सत्य है तथा जीव और ब्रह्म एक हैं यह बात भी सत्य है, परन्तु सत्यता अधि-कारके भेदसे है। जिस अवस्था में जीव और ब्रह्म एक हैं उस अवस्था में पहुँचने पर ही 'जीव और ब्रह्मका भेद है, यह बात

मिथ्या है परन्तु उस से पहिले सत्य है। यदि जीव और ब्रह्मके अभेद को तुम समझसके हो तब ही तत्त्वमसि ज्ञान सत्य है केवल मुखसे तत्त्वमसि कहने से तुमको ब्रह्मज्ञान होगा नहीं तुमको अपने जीवनमें उसका अनुभव होना चाहिये, सनत्कुमार ने नारदजीसे कहा था, कि–'एष तु अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं' जो सत्य के साथ कहसकते हैं, कि–सोऽहं वह यथार्थमें अतिवादी हैं,। अव्यक्त और व्यक्तमें भेद है, यह बात सत्य है, परन्तु किसके लिये है, जो सकल जगत् ब्रह्म ही है, इस बात का अपने जीवनमें अनुभव करसके हैं उनके लिये ही सत्य है। जीव जबतक उस अवस्था को प्राप्त न हो, तब तक भूमिको आदर्श करके अपने २ अधिकारके अनुसार अपने को अच्छा लगने वाले उपाय से उस की ओर को बढ़ता रहे। छान्दोग्य उपनिषद् कहता है, कि–"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत। तत्र खलु क्रतुमयः पुरुषः यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुः कुर्वीत" सत्य सत्य ही सकल विश्व ब्रह्म है क्योंकि–सब ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, ब्रह्म से ही पालन होरहा है और ब्रह्म में ही लीन होगा अतएव उस ब्रह्मकी शान्त और संयतचित्त होकर उपासना करनी चाहिये जीव क्रतुमय है अर्थात् इस जीवन में जिस विषय में मन लगाता है परजन्म में उस के सा ही होता है अतएव ब्रह्म की ही चिन्ता करनी चाहिये, इसी अभिप्राय को लेकर शाण्डिल्य मुनि कहते हैं, कि–शास्त्र और युक्तियोंके प्रमाण से भक्ति उभयपरा है, अर्थात् जैसे भगवान् के ऐश्वर्य का ध्यान करना आवश्यक है तैसे ही आत्मज्ञान का साधन भी करना चाहिये॥ ३१॥

वैषम्यादसिद्धमिति चेन्नाभिज्ञान-वदवैशिष्ट्यात् ॥ ३२ ॥

(वैषम्यात्) विषमता होने से (असिद्धम्) ऐसा कहना ठीक नहीं है (इति चेत् न) यदि ऐसा कहो तो अनुचित है, क्योंकि-(अभिज्ञानवत्) पहिले ज्ञान की समान(अवैशिष्ट्यात्) विषमता नहीं है अर्थात्-एक बार कहते हो, कि ब्रह्म में कोई भेद नहीं है और एक बार कहते हो कि-जीव को ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये,यह कैसी बात है? इसमें विषमता का दोष आता है, इस कारण तुम जिस मत को सिद्ध करना चाहते हो वह सिद्ध नहीं होसकता जीव और ब्रह्मेंमे भेद है, इस बातको स्वीकार करो तो हम इस बात को मान सकते हैं, कि-जीव को ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये परन्तु जीव और ब्रह्म में भेद भी नहीं है और जीव ब्रह्म की उपासना भी करे, यह बात विषम है? इस के उत्तर में शाण्डिल्य कहते हैं कि-इस में कोई विषमता नहीं होती जैसे अभिज्ञान (पहिचानने) में ज्ञान के विषय दो नहीं हैं एक है और पहिले जानी हुई पीछे पहिचानी हुई वस्तु में कोई विशिष्टता नहीं होती तैसे ही जीव ब्रह्म को जानलेता है तो उन दोनों में कोई भेद नहीं होता है। किसी देवदत्त नामक पुरुष को तुमने बहुत दिनों पहिले देखा था उस के अनन्तर उस को भूलगए तदनन्तर अचानक एक दिन उस को देख पाया और अपरिचितसा मालूम हुवा परन्तु जरा एक ध्यान देने

पर मालूम होने लगा कि–इस को कहीं देखा है, तब पहिली स्मृति जाग उठी और तुम कह उठे कि–ओहो ? यह तो वह देवदत्त है, जिन को हमने पहिले देखा था, यहां ज्ञान के विषय दो देवदत्त नहीं है एक ही है। जब देवदत्त को पहिले ही देखा, तब जिस देवदत्त को प्रथम देखा था वह हमारे मन में भी नहीं था, जब ध्यान आया तब पहिला देवदत्त और इस समय का देवदत्त एक ही रहा दो देवदत्त नहीं हुए इस लिये अभिज्ञान का विषय एक ही है, दो नहीं है अतीत वर्त्तमान में आकर मिलजाता है। जीव जबतक अज्ञान अवस्था में रहता है जबतक उस को यह भान नहीं होता है, कि–मैं ब्रह्म हूँ। राजकुमार ग्वालियों के बालकों के साथ खेलता है, ग्वाले की स्त्री को वह माता कहता है ग्वाले को पिता कहता है वह अपने मन में समझता है कि–मैं ग्वाले का ही बालक हूँ। जब प्रजा जानपाती है, कि–ग्वाले के घर राज कुमार है तब उस को राजसिंहासन पर बैठाती है और राजकुमार को यह ज्ञान होता है, कि–मैं राजा का पुत्र हूँ। इस प्रकार वास्तव में जीव ब्रह्ममें कुछ भेद नहीं है परन्तु अज्ञानवश जीव समझगया है, कि–मैं स्वतन्त्र हूँ, मैं हिन्दू, ईसाई वा मुसलमान हूँ परन्तु जब उसको ही यह ज्ञान होजाता है, कि–मैं ब्रह्म हूँ, तब ही वह कह उठता है कि– "शिवोऽहम्" मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कुछ नहीं हूँ मैं ब्रह्म हूँ, यह ज्ञान होते ही जीव ब्रह्म का भेद मिटजाता है, जबतक भेदज्ञान है तबतक भेद है जब भेदज्ञान नहीं रहता तब भेद भी नहीं रहता ॥ ३२ ॥

न च क्लिष्टः परः स्यादनन्तरं विशेषात् ॥ ३३ ॥

(परः) परमात्मा (क्लिष्टः) क्लेशका भागी (स्यात्) होजायगा (न च) ऐसा मानना ठीक नहीं है (अनन्तरम्) अभेदबुद्धि होनेपर (विशेषात्) विशेष निर्णय होने से। अर्थात्—जीव और ईश्वर में यदि कोई भेद नहीं रहा तो जीव की समान ईश्वर को भी क्लेश का भागी होना पड़ेगा इस तर्क के उत्तर में शाण्डिल्य ऋषि कहते हैं, कि—ऐसा नहीं होसकता क्योंकि—जीव के उपाधि से मुक्त होजाने पर ईश्वर के साथ उसका अभेद होजाता है। उपाधि से मुक्त हुए जीव में क्लेश आदि नहीं रहते और तब जीव और ईश्वर का अभेद होजाने पर क्लेश आदि ईश्वर को स्पर्श नहीं कर सकते ॥ ३३ ॥

ऐश्वर्यं तथेति चेन्न स्वभाव्यात् ३४

(ऐश्वर्यम्) ऐश्वर्य (तथा) तैसा ही (इति चेत् न) ऐसा कहो तो ठीक नहीं है, क्यों कि—(स्वभाव्यात्) स्वाभाविक है। अर्थात् ईश्वर का ऐश्वर्य पीछे से पाया हुआ वा उपाधिमूलक नहीं है। ताप और प्रकाशशक्ति जैसे अग्नि की स्वभाविक वा नित्यसिद्ध है तैसे ही ईश्वर का ऐश्वर्य भी स्वाभाविक है, ईश्वर किसी समय भी ऐश्वर्य विहीन नहीं होसकता ॥ ३४ ॥

अप्रतिषिद्धं परैश्वर्यंतद्भावाच्च नैव-मितरेषाम् ॥ ३५ ॥

(परैश्वर्यम्) परात्मा का ऐश्वर्य (अप्रतिषिद्धम्) प्रतिषिद्ध नहीं है (तद्भावात् च) उसका स्वभाविक होने से (इतरेषाम्) अन्य जीवोंका (एवं न) ऐसा नहीं है। अर्थात् जीवात्मा में भी ऐश्वर्य अवश्य है परन्तु वह माया के विकार से व्याहत होने के कारण परिस्फुट नहीं होते हैं, भगवान् की उपासना के द्वारा अविद्यारूप विकार नष्ट होजाने पर जीव भी शिवस्वरूप होकर ऐश्वर्यसमूहका अधिकारी होजाता है, परन्तु ईश्वर को यह ऐश्वर्य इस प्रकार प्राप्त नहीं करना पड़ता है, किंतु ईश्वरका वह नित्य और स्वभावसिद्ध है॥३५॥

सर्वानृते किमिति चेन्नैवं बुद्ध्यानन्त्यात् ॥ ३६ ॥

(सर्वान् ऋते) सब को छोड़कर (किम्) क्या है (इति चेत् नैवम्) यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं है, क्योंकि— (बुद्ध्यानन्त्यात्) बुद्धि अनन्त प्रकार की है। अर्थात्—यदि सब ही जीव भक्ति, उपासना आदि के द्वारा यदि मुक्ति पाजायें तो फिर ऐश्वर्य को कौन भोगेगा, उसकी आवश्यकता ही क्या है ? इस तर्क के उत्तर में शाण्डिल्य कहते हैं कि— मनुष्यों की बुद्धियें अनन्त हैं। ऐसा कोई भी दिन नहीं होसकता जिस दिन सब ही जीव मुक्त होजायँ, सब समय ही

अनेकों अमुक्त जीव होंगे उनके लिये भगवान् के ऐश्वर्य का चिन्तवन करने की आवश्यकता है, अथवा जीवों की अनेकों प्रकार की बुद्धि होने के कारण सबही जीवन्मुक्ति नहीं चाहते, अनेकों पुरुष ऐश्वर्य की ही लीला की ही लालसा रखते हैं, जो ऐश्वर्य के भिखारी हैं, उनके लिये ऐश्वर्य की अत्यन्त आवश्यक्ता है॥

प्रकृत्यन्तरालादवैकार्यं चित्सत्त्वे-नानुवर्तमानत्वात्॥ ३७॥

(प्रकृत्यन्तरालात्) प्रकृति के मध्यस्थ होने से (चित्-सत्त्वेन) चित्सत्ता के (अनुवर्त्तमानत्वात्) अनुगत होने से (अवैकार्यम्) विकारीपन नहीं है। अर्थात् ईश्वर प्रकृति को मध्य में डालकर कार्य करते हैं, और केवल चित्सत्ता सेवर्त्त-मान रहते हैं, इस कारण प्रकृति का विकार भगवान् को स्पर्श नहीं करसकता। प्रकृत्ति वा माया ही विश्व का उपा-दान कारण है। यह प्रकृति अव्यक्त अवस्था में ब्रह्म की शक्तिस्वरूप ब्रह्म में लीन होजाती है। ब्रह्म की सत्ता चिन्मात्र है, इस कारण ब्रह्म प्रकृति की समान विकारी नहीं होता है जब ब्रह्म प्रकृति को व्यक्त करता है, तब ईश्वर कहा जाता है। प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है अतः ब्रह्म ही जैसे जगत् का निमित कारण है तैसे उपादान कारण भी है परन्तु स्थूल भावसे प्रकृति ही जगत् की उपादान कारण है शाण्डिल्यने यहां विवर्त्तवाद और परिणामवाद की एकवाक्यता करदी

विकार वा परिणाम प्रकृति का होता है, परन्तु प्रकृति का प्रथम विकाश विवर्त्त का हेतु है ॥ ३७ ॥

तत्प्रतिष्ठा गृहपीठवत् ॥ ३८ ॥

(तत्प्रतिष्ठा) तिस ब्रह्म में विकार की स्थिति (गृहपीठवत्) घर में स्थित काष्ठासन की समान है। अर्थात्—कोई मनुष्य घर के भीतर कुर्सीपर बैठा हो तो भी कहा जासकता है कि—वह घर में बैठा है तैसे ही व्यावहारिक जगत् की साक्षात् सम्बन्ध से प्रकृति कारण है तथापि जगत् ब्रह्ममें प्रतिष्ठित है, ऐसा कहा जासकता है ॥ ३८ ॥

मिथोऽपेक्षणादुभयम् ॥ ३९ ॥

(मिथः अपेक्षणात्) परस्पर अपेक्षा होने से (उभयम्) दोनों कारण हैं अर्थात् ईश्वर की चेतना रूप सत्ता के विना केवल अचेतन मायासृष्टि के प्रवाह का निर्वाह नहीं कर सकती और माया की सहायता के विना ईश्वर की केवल चैतन्यसत्ता भी जगत् की रचना आदि नहीं करसकती इस कारण दोनोंको ही विश्वका कारण कहा जासकता है ॥३९॥

चेत्याचितोर्न तृतीयम् ॥ ४० ॥

(चेत्याचितोः) प्रकृति और ब्रह्म से (तृतीयम्) तीसरा (न) नहीं है अर्थात्—ब्रह्म चित् है और प्रकृति चेत्या है, इन चित् और चेत्या को छोड़कर तीसरा पदार्थ कुछ नहीं है, व्यावहारिक जगत् के तत्त्वों को अलग २ करने पर केवल विषयी और ज्ञाता और ज्ञेयके अतिरिक्त और कुछ नहीं है

चित् विषयी, प्रकृति विषय—चेत्या है । जगत् में चित् और चेत्या यह दोनों ऐसे ओत प्रोत भाव से परस्पर मिलते हैं, कि—विशुद्ध चित् और विशुद्ध चेत्या स्वतन्त्ररूपमें देखनेमें नहीं आते । सत्वगुण विशिष्ट प्रकृति को मध्यस्थ करके चित् का विशुद्ध विकाश होता है, प्रकृति के रजोगुणी होनेपर चित् का विकाश होता है, परन्तु रञ्जितभावसे । तामसिक प्रकृति को मध्यस्थ करके पहिले तो चित् प्रकाश ही नहीं होता, चित् को यदि एक प्रकाश रूप मान लिया जाय तो और उस के कच्चे आवरण को प्रकृति मान लें तो श्वेत आवरण सात्विक, रँगेहुए नीले लाल आदि आवरणों को राजसिक और काले वर्णको तामसिक प्रकृति कहते हैं निर्मल श्वेत आवरणमेंको होका विशुद्ध प्रकाश वाहर को आवैगा, रँगेहुए आवरण के भीतर को होकर रँगा हुआ प्रकाश वाहर आवैगा और काले परदे में को होकर तो प्रकाश निकलेगा ही नहीं । चित् सर्वदा सर्वत्र विद्यमान है, परन्तु प्रकृति की न्यूनाधिकता के अनुसार उस के विकाश होने में भेद होगा गायत्रीमन्त्र का उपास्य भर्ग यही चित् है । योगी याज्ञवल्क्य ने कहा है, चित् "वृक्षौषधितृणानाञ्च रसरूपेण तिष्ठति । पाषाणमणिधातूनां तेजोरूपेण संस्थितः । हृदिस्थं सर्वभूतानां चेतो द्योतयते ह्यसौ ॥" अर्थात् वृक्ष, औषध-तृणादिमें रस-रूप से और पाषाणमणि धातुओंमें तेजोरूप से स्थित रहता है, वह सकल प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर प्रकाश करता है

युक्तौ च सम्परायात् ॥ ४१ ॥

(युक्तौ च) वह प्रकृति पुरुष परस्पर सम्बद्ध हैं (सम्प-रायात्) अनादि होने से अर्थात् प्रकृति और चित् अनन्त काल से युक्त हैं प्रकृति ब्रह्म की अघटनघटनापटीयसी शक्ति है, अव्यक्त अवस्था में प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती गीता कहती है—प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अनादि जानो ॥ ४१ ॥

शक्तित्वान्नानृतं वेद्यम् ॥४२॥

(शक्तित्वात्) शक्ति होने से (अनृतम्) मिथ्या (न) नहीं (वेद्यम्) जानना । अर्थात्—प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है, परन्तु वह मिथ्या नहीं है । प्रकृति को व्यावहारिक जगत् के कारणरूप से देखा जाय तो वह वह सत् है, परन्तु ब्रह्म की शक्तिरूप से देखाजाय तो असत् है इसी से ' सदसदा-त्मिका' है । कार्यरूप से असत है और कारणरूप से सत् है घट असत् है, क्योंकि—घट को तोड़ देनेपर मट्टी में मिलजाता है । मट्टी घड़े की अपेक्षा सत् है, परन्तु अपने कारण की अपेक्षा असत् है, तैसे ही जगत् का मूल कारण सत् है, अन्य पदार्थ उस की अपेक्षा असत् हैं। हरएक पदार्थ अपने कारण की अपेक्षा असत् और कार्य की अपेक्षा सत् है ऐसे ही प्रकृति व्यवहारिक जगत् की अपेक्षा सत् है ।

तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लि-ङ्गेभ्यः ॥ ४३ ॥

(तत्परिशुद्धिः) उस की परिशुद्धि (लोकवत्) लोक

की समान (लिङ्गेभ्यः) चिन्हों से (गम्या) जाननी चाहिये अर्थात् प्रासङ्गिक बातों की आलोचना करके अब शाण्डिल्य मुनि फिर मूल विषय भक्तिकी आलोचना करते हैं कि—जिन लौकिक चिन्हों से मनुष्य का किसी पदार्थ पर प्रेम प्रतीत होता है उन ही चिन्हों से भक्ति की शुद्धि पहिचानना चाहिये, जो जिस से प्रेम करता है वह उस के पास रहना चाहता है उस का गुणानुवाद सुनना चाहता है, उस की सेवा करना चाहता है और उस के दूर रहने पर बड़ा कष्ट पाता है, भगवान् में भक्त का प्रेम भी ऐसे ही लक्षणोंसे जाना जाता है ४२

सम्मान-बहुमान-प्रीति-विरहेतर-विचिकित्सा-महिमख्याति-तदर्थ-प्राणस्थान-तदीयता-सर्वतद्भावाप्राति-कूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्

(स्मरणेभ्यः) शास्त्रों में लिखे भगवान् के चरित्रों से (बाहुल्यात्) अधिकता के साथ (सम्मान-बहुमान-प्रीति-विरहेतर विचिकित्सा महिमख्याति-तदर्थप्राणस्थान-तदीयता-सर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि) सन्मान, बहुमान, प्रीति, विरह, इतर, विचिकित्सा, महिमाकीर्त्तन, प्रियतम के लिए प्राणधारण, तदीयता, उस के ही भाव में सर्वथा दृष्टि और अप्रतिकूलता आदि भक्ति के लक्षण हैं। अर्थात् अर्जुन की भगवान् में सन्मानबुद्धि थी । भगवान् के नाम से किसी को पुकारने पर अथवा कृष्ण का श्यामवर्ण है इस प्रकार

श्यामवर्ण के किसी पदार्थ को देखने पर यदि किसी के मन में भगवद्भक्ति का उदय हो तो उस को वहुमान कहते हैं। 'रा' देखते ही प्रल्हाद को राम का स्मरण आता था, समुद्र के नील जल को देखकर चैतन्यप्रभु उस को आलिङ्गन करने के लिये कूद पड़े थे। विदुर की प्रीति और गोपियों के विरह को कौन नहीं जानता ? उपमन्यु और चित्रकेतु की इतर विचिकित्सा (ईश्वर से भिन्न पदार्थ में उदासीनता) शास्त्र में प्रसिद्ध है। भीष्म और व्यास आदिने भगवान् की महिमा का कीर्त्तन किया है। भगवान् के लिये ही प्राण धारण करना हनुमान् और व्रजवासियों का प्रसिद्ध है। राजा वलि की तदीयता (सर्वस्व भगवान् को अर्पण करना) प्रल्हाद का तद्भाव (सब कुछ उन का ही है, और वह ही सर्वरूप हैं) और अप्रतिकूलता, जैसे कि—भगवान् मारने के निमित्त आगए तब भी भीष्मजी ने कहा था, कि—"एह्येहि देवेश जगन्निवास नमोऽस्तु ते शार्ङ्गगदासिपाणे प्रसह्य मा पातय लोकनाथ रथादुदग्राद्भुतशौर्यसंख्ये॥" इन से तथा और वहुत से लक्षणों से भगवान् की भक्ति पहिचानी जाती है ॥४४॥

द्वेषादयस्तु नैवम् ॥ ४५ ॥

(द्वेषादयः तु) द्वेष आदि तो (एवं न) भक्ति के लक्षण नहीं हैं। अर्थात्—भगवान् में विद्वेषभाव होने से शिशुपाल आदि को समान क्लेश भोगना पड़ता है, द्वेष होनेसे मुक्ति पाना असम्भव होजाता है। भगवान् की कृपा से भक्त के हृदय में द्वेषबुद्धि का अहङ्कार जम हो नहीं सकता ॥४५॥

तद्वाक्यशेषात्प्रादुर्भावेष्वपि॥ ४६ ॥

(तद्वाक्यशेषात) भगवान् के वाक्यका प्रमाण होने से (प्रादुर्भावेषु अपि) अवतारों में भी (सा) वह भक्ति देखने में आती है। अर्थात् भक्ति केवल ईश्वर में ही नहीं किन्तु ईश्वर के अवतारों में भी करनी चाहिये, श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, कि–"देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि" देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं श्रीकृष्ण को अवतार होने पर भी उन की भक्ति करनी चाहिये, मद्भक्त शब्द से यह बात स्पष्ट है ॥ ४६ ॥

जन्मकर्मविदश्चाजन्मशब्दात् ॥ ४७

(जन्मकर्मविदः च) जन्म कर्मों को जानने वालों को भी (अजन्मशब्दात्) फिर जन्म की प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा श्रुति कहती है। उपनिषद्रूपा गीता में कहा है– "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥" जो पुरुष तत्त्वसे मेरे जन्म और कर्मों को जानगये हैं, वह देहको त्यागकर फिर जन्म नहीं धारते, हे अर्जुन ! वह मुझे प्राप्त होते हैं। सूत्रकार कहते हैं कि भगवान् का जन्मधारण स्थूलबुद्धि से समझ में नहीं आवेगा। भगवान् का जन्म स्थूलशरीर में नहीं होता है। किसी स्थूलशरीर में ईश्वरीय शक्ति का प्रादुर्भाव होने पर उसको अवतार कहते हैं। "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवामि युगे

युगे।" भगवान् कहते हैं कि-मैं सत्, चित्त, आनन्दस्वरूप हूँ, मैं अज और नित्य होकर लोकों पर अनुग्रह करने के लिये मायाकल्पित शरीर को धारण करके वेदविहित धर्ममर्यादा की रक्षा करता हूँ। मेरा जन्म कर्म सब अलौकिक है। जो मेरी इस अलौकिकलीला को जानकर मुझे सर्वथा स्वतन्त्र निर्लिप्त और अकर्त्ता समझ सकते हैं वह संसारबन्धन से छूट जाते हैं ॥ ४७ ॥

तच्च दिव्यं स्वशक्तिमात्रोद्भवात् ४८

(तत् च) वह अवतार (दिव्यम्) असाधारण है, क्योंकि (स्वशक्तिमात्रोद्भवात्) उन की अपनी शक्ति से ही उन का जन्म होता है। अर्थात जगत्प्रपंच भगवान् की शक्ति से उत्पन्न होता है, परन्तु कैसे उत्पन्न होता है, यह बात मनुष्य की बुद्धि के बाहर है अवतार भी ऐसे ही भगवान् की निज शक्ति से प्रकट होता है और वह भी मनुष्य की बुद्धि के अगम्य है, जीवका पुनर्जन्म जैसे जीव के कर्मों के अनुसार होता है तैसे भगवान् का नहीं है, भगवान् ने तो गीता में कहा ही है, कि-मैं अज और अविनाशी होकर भी अपनी माया के कारण अनेकों जन्ममरण-शील मालूम होता हूं ॥

मुख्यं तस्य हि कारुण्यम् ॥ ४९ ॥

(तस्य) उन की (कारुण्यं हि) दयालुता ही (मुख्यम्) मुख्य है। अर्थात्-भगवान् पाप-पुण्य कर्मजनित दुःख सुख-रूप फल भोगने के लिये जन्म ग्रहण नहीं करते हैं। वह

कभी मायाजाल में बँधकर जन्म धारण नहीं करते हैं, जब भूमि पापके भार से दबने लगती है, जब धर्म की मर्यादा घटने लगती है, जब दुरात्मा साधुओं को पीड़ा देने लगते हैं तब ही वह कृपावश होकर भूतल पर अवतार धारण करते हैं, जिस के प्रमाण में वेद पुराणादि में अनेकों वचन मिलते हैं ॥ ४६ ॥

प्राणित्वान्न विभूतिषु ॥ ५० ॥

(विभूतिषु) विभूतियों में (प्राणित्वात्) प्राणी होने से (न) पराभक्ति नहीं होती। अर्थात्—भगवान् ही कृपा करके भक्ति देसकते हैं। ब्राह्मण राजा आदि उन की विभूतियें हैं, परन्तु वह कर्मफल भोग के अधीन जन्म—मरणशील जीव होने के कारण पूर्णप्रकाशस्वरूप की शक्तिरूप भक्ति नहीं देसकते 'मायातीता महा वैष्णवी शक्ति ही भक्तिरूपा है भक्ति विभूतियों के अधीन नहीं है, वह सदा केवल पूर्णस्वरूप में ही विराजमान रहती है ॥ ५० ॥

द्यूतराजसेवयोः प्रतिषेधाच्च ॥ ५१ ॥

(द्यूतराजसेवयोः) द्यूत और राजसेवा का (प्रतिषेधात् च) निषेध होने से भी। अर्थात्—भगवद्गीता के विभूति अध्याय में द्यूतक्रीड़ा और राजा को भी विभूति कहा है, परन्तु धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्रने द्यूतक्रीड़ा और राजसेवा का निषेध किया है, इस कारण विभूतिमात्र से भक्ति प्राप्त होने की आशा नहीं है ॥ ५१ ॥

वासुदेवेऽपीति चेन्नाकारमात्रत्वात् ॥

(वासुदेवे अपि) कृष्ण में भी विभूतिभाव है (इति, चेत् न) यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं है क्योंकि–(आकारमात्रत्वात्) आकारमात्र हैं। अर्थात्–गीता में वासुदेव को भी भगवान् की विभूति कहा है, यदि विभूतिमात्र में भक्ति का निषेध हुआ तो भगवान् कृष्ण की भक्ति का भी निषेध होगया, इस सन्देह का उत्तर देते हुए शाण्डिल्य कहते हैं कि वासुदेव यद्यपि विभूतियों में गिने गये हैं तथापि उनमें ईश्वरत्व था, वासुदेव के मनुष्याकार धारण करने पर भी उन के ईश्वरत्व के कारण उनकी भक्ति करनी होगी, उन में ईश्वरत्व रहित साधारण कर्मज देहधारीपन नहीं है, क्योंकि शास्त्र में जहां तहां उन को विष्णु नाम से कहा है ॥ ५२ ॥

प्रत्यभिज्ञानाच्च ॥ ५३ ॥

(प्रत्यभिज्ञानात्, च) प्रत्यभिज्ञान होने से भी वासुदेव ईश्वर हैं, अर्थात्–वासुदेव कृष्ण का अवतार होते ही उन को ऋषियों ने ईश्वर जानलिया था। ईश्वर के स्वरूप को ऋषि जानते थे और वासुदेव का अवतार होते ही उन्होंने पहिचान लिया था कि–यह वही ईश्वर हैं ॥ ५३ ॥

वृष्णिषु श्रैष्ठ्येन तत् ॥ ५४ ॥

(वृष्णिषु) वृष्णियों में (श्रैष्ठ्येन) श्रेष्ठ होने के कारण (तत्) वह विभूति है ऐसा कहा है। अर्थात् कृष्ण को जो विभूतियों में वर्णन करा है, उस का कारण यह है, कि–वह वृष्णियों में सब से श्रेष्ठ थे ॥ ५४ ॥

एवं प्रसिद्धेषु च ॥५५॥

(प्रसिद्धेषु च) प्रसिद्ध अन्य अवतारों में भी (एवम्) ऐसे ही भक्ति करना चाहिये अर्थात् कृष्ण भगवान् की समान जिन में ब्रह्म के लक्षण थे ऐसे प्रसिद्ध नृसिंह, वामन रामचन्द्रादि में भक्ति करना चाहिये राम कृष्ण आदि भगवद-वतारों को भी जो विभूतियों में गिना है सो वह केवल विभूतियों की मर्यादा बढ़ाने के निमित्त है वास्तव में वह साक्षात् भगवान् हैं ॥ ५५ ॥

द्वितीय आन्हिक

भक्त्या भजनोपसंहाराद्गौण्या पराये तद्धेतुत्वात् ५६

(गौण्या) गौणी वृत्ति करकै (भक्त्या) भक्ति शब्द से (भजनोपसंहारात्) भजन में समाप्ति होने के कारण (परायै) पराभक्ति के निमित्त (तद्धेतुत्वात्) उस के हेतु होने से अर्थात्–मुख्यभक्ति का साधन करने में जो अनेकों विघ्न साधक को भक्ति मार्गसे गिरादेते हैं, गौणी भक्ति उन विघ्नों को नष्ट कर देती है, शास्त्र में कहा है कि–भक्ति के द्वारा भजन कर इस कारण यह पहिला भक्ति शब्द गौणी-भक्ति का वाचक है. यह गौणीभक्ति पराभक्ति की कारण है अर्थात् पराभक्ति को पाने के मार्ग में पहुँचा देती है ५६

रागार्थप्रकीर्त्तिसाहचर्याच्चेतरेषाम्।

(रागार्थप्रकीर्त्तिसाहचर्यात्) कीर्त्तन करना अनुराग के अर्थ कहा है उस के साथ होने से (इतरेषाम् च) औरों का भी यही फल है। अर्थात्–गीता में कहा है कि–"स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च" हे भगवन्! जगत् तुम्हारी महिमा का कीर्त्तन करके प्रसन्न और अनुराग करने वाला होता है। इस में साक्षात् कीर्त्तन का फल अनुराग कहा है फिर "सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः। नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥" अर्थात् मेरी महिमा का कीर्त्तन करके यती दृढ़व्रत तथा नमस्कार करके जो भक्ति के साथ मेरी उपासना करते हैं। इस में कीर्त्तन के साथ जो नमस्कार आदि कहे हैं उन का फल भी अनुराग ही है॥ ५७॥

अन्तराले तु शेषाः स्युरुपास्यादौ च काण्डत्वात् ५८

(अन्तराले तु) मध्य में तो (शेषाः) शेष साधन (काण्डत्वात्) ब्रह्मकाण्डके अन्तर्गत होने से (उपास्यादौ) उपासना के साधनों में हैं। अर्थात् भगवद्गीता के नवम अध्याय के तेरहवें श्लोक से उनतीसवें श्लोक पर्यन्त मध्य में भक्ति को पाने के बहुत से उपाय कहे हैं, वह सब मुख्या भक्ति के साधन हैं, क्योंकि–सकल ब्रह्मकाण्ड में भक्ति और उस के साधनों का वर्णन है। पराभक्ति का वर्णन तो तेरहवें और उनतीसवें श्लोक में है॥ ५८॥

ताभ्यः पावित्र्यमुपक्रमात् ॥ ५९ ॥

(उपक्रमात्) गीता में कह दिया है इस कारण (ताभ्यः) तिन गौणी भक्तियों से (पावित्र्यम्) पवित्रता होती है। अर्थात्–तिस गौणी भक्तिरूप सकल उपायों से अन्तःकरण को मलिन करने वाले पाप का क्षय होता है, वह भक्ति को पाने का द्वार है, क्यों कि गीता में कहा है कि-'पवित्रमिदमुत्तमम्' यह उत्तम शोधक है ॥ ५९ ॥

तासु प्रधानयोगात् फला-धिक्यमेके ॥ ६० ॥

(एके) कोई (तासु) उन गौणी भक्तियों में (प्रधानयोगात) प्रधान भक्ति का संयोग होने से (फलाधिक्यम्) फल की अधिकता है। अर्थात्–"यो मे भक्त्या प्रयच्छति" "नमस्यन्तश्च मां भक्त्या" यह अर्पण और नमस्कार भक्ति के प्रसङ्ग में कथित होने से ही भक्ति के अङ्ग कहलाते हैं, फिर भी जो इन में भक्ति को संयुक्त किया है उस का अभिप्राय यह है, कि जिन के अन्तःकरण में परा भक्ति का प्रभाव वहने लगे, वह भी यदि अर्पण, नमस्कार आदि साधनों का अनुष्ठान करते रहें तो अधिक फल की प्राप्ति होती है ॥ ६० ॥

नाम्नेति जैमिनिः सम्भवात् ॥ ६१ ॥

(जैमिनिः) जैमिनि (इति) ऐसा कहते हैं कि–(नाम्ना)

नाम से (सम्भवात्) सामानाधिकरण्य होने से अर्थात् गीतामें नवम अध्याय के तेरहवें श्लोक से अट्ठाइसवें श्लोक तक भक्ति को पानेके उपाय वर्णन करे हैं, शाण्डिल्य कहते हैं कि-वह सब मुख्या भक्ति नहीं हैं, गौणी भक्ति हैं। बहुत से आचार्यों का मत है,कि-वह भी मुख्या भक्ति हैं और भक्ति को पाने के उपायों में उन का वर्णन उपासकों की प्रवृत्ति होने के लिये है। अपने मत को पुष्ट करने लिये शाण्डिल्य मुनि यहां जैमिनि के मत की साक्षी देते हैं कि-जैमिनिने भी उन को गौणी भक्ति कहा है जहां भक्तिपूर्वक नमस्कार करना कहा है तहां भक्ति और नमस्कार एक ही पदार्थ है। जहां भक्तिके साथ पत्र पुष्प देना कहा है तहां भक्ति, पत्र पुष्प अर्पण करने से भिन्न नहीं है ॥ ६१ ॥

अत्राङ्गप्रयोगाणां यथाकाल-सम्भवो गृहादिवत् ६२

(अत्र) यहां (अङ्गप्रयोगाणाम्) अङ्गप्रयोगों का (यथा-कालसम्भवः) यथासमय होसकना (गृहादिवत्) गृह आदि की समान है। अर्थात्-यदि घर बनाना होता है तो प्रथम दीवार, द्वार, छत, आदि यथाक्रम से बनाये जाते हैं, तैसे ही पहिले भगवद्गुणोंका श्रवण कीर्त्तन आदि करना होता है तब श्रद्धा का उदय होता है, श्रद्धा होने से विधिपूर्वक सेवा पूजा आदि होसकती है, इस क्रम से अन्त में पराभक्ति की प्राप्ति होती है। जैसे सब सामग्री एक साथ इकट्ठी न

होने पर भी उपस्थित सामग्री से घर बनने का काम आरम्भ होजाता है तैसे ही सकल साधन एक साथ न होसकने पर, भी जो कुछ होसकें उन से ही भक्ति-साधन का कार्य्यारम्भ होसकता है ॥ ६२ ॥

ईश्वरतुष्ट्ये एकोऽपि बली ॥ ६३ ॥

(ईश्वरतुष्ट्ये) ईश्वर के प्रसन्न होने के लिये (एकः अपि) एक साधन भी (बली) बलवान् होता है । अर्थात् भगवान् के गुण सुनना, कीर्तन करना आदि भक्तिप्राप्ति के अनेकों उपाय हैं उनमें से एक उपाय भी दृढ़ता के साथ किया जाय तो भगवान् प्रसन्न होजाते हैं और पराभक्ति की प्राप्ति होजाती है, दरिद्रों का दुःख दूर करने को धनी जितने उपाय कर सकता है किसी निर्धन से उतने उपाय नहीं होसकते परन्तु यदि वह अपनी शक्ति के अनुसार दरिद्रों के दुःखमोचन का उपाय करै तो उस के लिये वही पर्याप्त है, धनी सौ मुद्रा देकर जो फल पाता है दरिद्र एक कौड़ी ही देकर उस से अधिक फल पासकता है, कोई सौ २ फूल चढ़ा कर पूजा करता है तो कोई फूल न पाकर केवल जल ही चढ़ा देता है, सार यह है कि-भगवान् की ओर को लक्ष्य होना चाहिये, जो कुछ भी करो भगवान् के अर्पण करदो वही सब कुछ है ॥ ६३ ॥

अबन्धोऽर्पणस्य मुखम् ॥ ६४ ॥

(अबन्धः) अनासक्ति (अर्पणस्य) भगवदर्पण करने

का (मुखम्) द्वार है। अर्थात् यदि सब कुछ भगवान् के अर्पण करने का साधन करना चाहै तो विषयभोग में आसक्ति का त्याग करै। मनुष्य जब अपने क्षुद्रत्व को भूल कर विश्वात्मा के साथ अपने को सम्मिलित करसकता है तब वह आसक्ति शून्य होता है। जैसे गानेवाला तंबूरे आदि की सहायता से संगीत का आरम्भ करता है, अपने कण्ठ का स्वर क्रम से तम्बूरे के स्वर के साथ मिलाता है। तैसे ही साधक क्रम से विश्वात्मा के साथ अपनी आत्मा को मिलाता है। छोटे २ विषयों में स्वार्थ को त्यागते २ बड़े २ विषयों में भी स्वार्थत्याग होसकता है, आसक्ति का छूटना एक साथ नहीं बनसकता, परन्तु सकल प्राणियों में भगवान् की सत्ता को समझकर धीरे धीरे सब विषयों में ब्रह्मार्पण करसकता है ६४

ध्याननियमस्तु दृष्टसौकर्यात् ६५

(दृष्टसौकर्यात्) भगवान् की ओर लक्ष्य होने में सुगमता होने से ही (ध्याननियमः) ध्यानका नियम है। अर्थात्-भगवान् का असंख्यों रूपों में ध्यान होसकता है, जिस भाव के ध्यान से जिस का चित्त प्रसन्न हो, उस को वही भाव हृदय में धारण करके भगवान् का ध्यान करना चाहिये, इस प्रकार ध्यान करते २ चित्त में एकाग्रता उत्पन्न होती है, फिर धीरे २ समाधि होती है और समाधि से आत्मा की शक्ति बढ़ती है ॥ ६५ ॥

तद्यजिः पूजायामितरेषां नैवम् ६६

(तद्याजेः) तिनका यजन (पूजायाम्) पूजाके विषय में है (इतरेषाम्) और प्रयोगों को (एवम् न) इसप्रकार भगवन्निमित्तक नहीं कहा है। अर्थात् अन्य यज्ञादि के अनुष्ठान में कामनासे पशुहिंसा आदि होते हैं, ऐसी भावना से भगवान् की पूजा न करै जिसमें शरीर वाणी मनसे केवल उनकी ही सेवा हो उसका ही यत्न करै तब ही भगवत्प्राप्ति होती है नहीं तो कर्मपाश में बँधना पड़ता है॥ ६६॥

पादोदकन्तु पाद्यमव्याप्तेः॥६७॥

(पादोदकन्तु) पादोदक तो (पाद्यम्) पादके लिये विचारा हुआ होता है (अव्याप्तेः) अव्याप्ति होने से अर्थात् पादोदक कहनेसे केवल चरणों का स्पर्श किया हुआ जल नहीं लिया जायगा, क्योंकि–उस में अव्याप्ति दोष आता है "लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः" लक्ष्यके एकदेशमें न रहै उसको अव्याप्ति कहते हैं। यदि हम कहैं कि–जो कृष्ण हो वही गौ है तो लाल श्वेत आदि गौ नहीं रहैगी इस कारण उस में अव्याप्ति दोष आवेगा। शालिग्राम की शिला के पाद नहीं होते तब शालिग्राम के स्नान का जल पादोदक कैसे होसकेगा? इस लिये पादोदक कहनेसे पादके निमित्त विचारा हुआ जल लिया जायगा॥ ६७॥

स्वयमर्पितं ग्राह्यमविशेषात्॥६८॥

(स्वयम्) आप (अर्पितम्) अर्पण किया हुआ (ग्राह्यम्) ग्रहण करना चाहिये (अविशेषात्) कुछ विशेष न

होने से अर्थात्—देवमूर्त्ति को जो द्रव्य अर्पण करै उस को ग्रहण करनेमें संकुचित न होय अर्थात्—मन में यह न समझै कि—मैं अपनी चढ़ाई हुई वस्तु आपही कैसे ग्रहण करूँ। उपासक मात्र को प्रसाद ग्रहण करना चाहिये। जब तक तुमने अपनी वस्तु अर्पण नहीं की थी तब तक तुम्हारी थी अर्पण करदेने पर वह भगवान् की होगई उसमें तुम्हारा अधिकार नहीं रहा, परन्तु अर्पण करने वाले का अन्य भक्तों की अपेक्षा भी तो कुछ अन्तर नहीं रहा जैसे और भक्त लेसकते हैं तैसे ही वह भी लेसकता है ॥ ६८ ॥

निमित्तगुणाव्यपेक्षणादपराधेषु व्यवस्था ॥ ६९ ॥

(निमित्तगुणाव्यपेक्षणात्) निमित्त गुण और अव्यपेक्षा से (अपराधेषु) अपराधों में (व्यवस्था) व्यवस्था होती है। अर्थात्—भगवान् की सेवा करने में जितने प्रकार के अपराध (सेवापराध) होते हैं वह तीन प्रकार के माने जाते हैं—भ्रमवश अपराध करना अपने स्वभाव के दोप से नित्य अपराध करना, इच्छा न होने पर भी बलात्कार से अपराध करना। इस में अनिच्छासे करेहुए अपराध की अपेक्षा निमित्तापराध और निमित्तापराध की अपेक्षा नित्यापराध भारी है ६९

पत्रादेर्दानमन्यथा हि वैशिष्टयम् ७०

(पत्रादेः) पत्र आदि का (दानम्) दान है (अन्यथा)

बहुमूल्य द्रव्य के दान में (वैशिष्ट्यम्) विशेषता है अर्थात् भगवान् को श्रद्धा के साथ पत्र, पुष्प, फल, जल, आदि अर्पण करो अथवा सोना, चांदी, मणि, मुक्ता आदि अर्पण करो इन सबके दानका फल समान ही है क्योंकि-भगवान्के यहां फूल और मणियों में कुछ भेद नहीं है तुम अपनी श्रद्धा के अनुसार फल पाओगे सामग्री के परिमाण वा मूल्य के अनुसार फल नहीं पाओगे ॥ ७० ॥

सुकृतजत्वात्परहेतुभावाच्च क्रियासु श्रेयस्यः ॥ ७१ ॥

(सुकृतजत्वात्) पुण्यजनित होने से (परहेतुभावात् च) पराभक्ति की प्राप्ति का कारण होने से भी (क्रियासु) सब क्रियाओं में (श्रेयस्यः) श्रेष्ठ है। अर्थात्-इन सब साधनों से भगवान् में भक्ति उत्पन्न होती है, और साधन अन्य धर्मानुष्ठानों से उत्पन्न होते हैं इस कारण और कामों से श्रेष्ठ है, केवल भगवान्के सन्मुख फूल जल धरदेने से ही कुछ फल नहीं होता, किन्तु पूजा के साथ में मानसिक प्रवृत्ति भी चाहिये, नहीं तो-"गङ्गाजले किं न वसन्ति मत्स्या देवालये पक्षिगणा वसन्ति। भावोज्झितास्ते न फलं लभन्ते तीर्थाच्च देवायतनाच्च मुख्यात् ॥" अर्थात्-देवमन्दिरों में क्या कबूतर आदि नहीं रहते है ? और तीर्थस्थानों में क्या जल में मच्छियें नहीं रहती हैं ? परन्तु उन को कुछ फल नहीं होता, केवल उपासना के नियमों का पालन करने से ही कार्य सिद्ध नहीं

होता, उपास्य देवता का आदर्श अपने वश में करना चाहिये हम संसार में जितने काम करते हैं उन को यदि कर्त्तव्य जान कर करें तो भगवान् की उपासना होती है. परन्तु जो कार्य केवल भगवान् को लक्ष्य करके कियाजाय वह सब से श्रेष्ठ है ॥ ७१ ॥

गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वा-त्साहचर्यम् ॥ ७२ ॥

(त्रैविध्यम्) तीन भेद (गौणम्) गौण हैं (स्तुत्यर्थत्वात्) श्रेष्ठता सूचनार्थ (साहचर्यम्) साथ कथन है। अर्थात्–गीता में चार प्रकार के उपासक कहे हैं, उन में चौथा उपासक पहिले तीन प्रकार के उपासकों से श्रेष्ठ है, उन की प्रशंसा के लिये तीन प्रकार के उपासक चौथे के साथ कहे हैं। गीता कहती है–"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥" यह चार प्रकार के पुण्यात्मा पुरुष मुझे भजते हैं–एक आर्त्त जो कि दुःख पड़ने पर विपत्ति से उद्धार के लिये भगवान् को भजते हैं। दूसरे जिज्ञासु जो भगवत्तत्त्वको जानने लिये भगवान् शास्त्र और गुरु के उपदेश में श्रद्धा करते हैं। तीसरे अर्थार्थी, जो अपनी कामना सिद्ध होने के लिये भगवान् से प्रेम करते हैं इन तीनों की भक्ति गौणी है केवल चौथे ज्ञानी की भक्ति ही अन्तःकरण के निष्काम प्रेम की प्रफुल्लता से होती है, इसी से भगवान् कहते हैं कि–"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः।" ज्ञानी को तो मैं अपने आत्मा के समान ही जानता हूँ॥ ७२ ॥

वहिरन्तरस्थमुभयमवोष्टिसववत् ७३

(अवोष्टिसववत्) अवेष्टि और सव की समान (वहिरन्तरस्थम्) बाहर और भीतर स्थित (उभयम्) दो प्रकार का है। अर्थात् अवेष्टि और सव की समान श्रवण कीर्त्तन आदि कार्य भक्ति के बाहर और भीतर दोनों ही स्थान में रहता है। पापमोचन के लिये जो यज्ञ किया जाता है उस को अवेष्टि कहते हैं और सोमरस को निकालने के लिये जो यज्ञ किया जाता है उस को सव वा बृहस्पतिसव कहते हैं। अवेष्टि राजसूय के साथ एकत्र भी किया जाता है और अलग भी, सव वाजपेय यज्ञ के साथ भी किया जाता है और अलग भी किया जाता है। ऐसे ही श्रवण कीर्त्तन आदि से भगवान् की भक्ति भी की जाती है और ऐहिक फल भी प्राप्त होता है॥ ७३ ॥

स्मृतिकीर्त्योः कथादेश्चार्त्तौ प्रायश्चित्तभावात् ॥ ७४ ॥

(स्मृतिकीर्त्योः) स्मरण और कीर्त्तन को (कथादेः च) कथा आदि को भी (आर्त्तौ) आर्त्ति में (प्रायश्चित्तभावात्) प्रायश्चित्तरूप होने से। अर्थात्—पहिले श्रवण कीर्त्तन आदि की बात कह चुके हैं, वह पाप के प्रायश्चित्तरूप हैं। प्रत्येक पुरुष अपने २ पाप कर्म का उत्तरदाता है, इस कारण अपने पाप के उत्तरदाता तुम ही हो। शास्त्र

में पापों का अनेकों प्रकार का प्रायश्चित्त लिखा है, शाण्डिल्य कहते हैं, कि—भगवान् के नामों का कीर्त्तन आदि करने से पाप का प्रायश्चित्त होता है। वर्षाकाल में नदियों का जल मैला होजाता है परन्तु वर्षा का अन्त होनेसे वह मलिनता नहीं रहती उस समय कीच नीचे जम जाती है और जल की तली तक दीखने लगती है। मन की भी यही दशा है शान्त होने पर धूलि के कणों की समान सकल पाप नीचे को गिरकर विला जाते हैं। अन्तःकरण को शान्त करने की बहुत सी रीतियें हैं, परन्तु भगवान् के नामों का कीर्त्तन सब से श्रेष्ठ उपाय है ॥ ७४ ॥

भूयसामननुष्ठितिरिति चेदाप्रयाण-मुपसंहारान्महत्स्वपि ॥ ७५ ॥

(महत्सु अपि) बड़े २ पापों में भी (भूयसाम्) बड़े २ प्रायश्चित्तों की (अननुष्ठितिः (अनुष्ठान करने की आवश्यक्ता नहीं होगी (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो (आप्रयाणम्) मरण पर्य्यन्त (उपसंहारात्) समाप्ति होने से। अर्थात् यदि कहो कि—भगवान् के कीर्त्तन से ही पाप नष्ट होजाते हैं तो बड़े २ पाप करके भी कठोर प्रायश्चित्तों की आवश्यकता नहीं रहेगी, और ऐसा होने से पापों की वृद्धि होने लगेगी, इस के उत्तर में शाण्डिल्य कहते हैं कि—भगवान् के नाम का कीर्त्तन करना क्या कठोर नहीं है ? बहुत कठोर है, क्योंकि—प्रायश्चित्त तो एक बार ही करना पड़ता है,

परन्तु भगवान्के नाम का कीर्त्तन मरणपर्यन्त' जीवन भर करना पड़ता है ॥ ७५ ॥

लघ्वपिभक्ताधिकारे महत्क्षेपकमपर सर्वहानात् ॥७६॥

(भक्ताधिकारे) भक्त के अधिकारमें (अपरसर्वहानात्) अन्य सकल प्रायश्चित्तों का प्रयोजन न होने से (लघ्वपि) थोड़ा भी भगवद्भजन (महत्क्षेपकम्) बड़े २ पापों का नाशक होता है। अर्थात् भक्तिकी किरण ऐसी निर्मल और तीखी है, कि–पापरूप कुहर उसके सामने क्षणभर को भी नहीं ठहर सकता। जो श्रद्धा के साथ भगवन्नामका स्मरण करते हैं जो भगवद्गतप्राण और भगवान् के शरणागत होते हैं, उन महात्माओं के विषय में भी भगवान् ने अर्जुन से कहा है "अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः"। हे अर्जुन! तू वैध अवैध काम्य आदि सकल कर्मों को त्यागकर और शरीर इन्द्रिय मन आदि के धर्म वा कर्त्तापने के अभिमान करने आदि की भाँति को त्यागकर केवल मेरे ही शरणागत होजा, मैं तुझे सकल पापों से मुक्त करदूँगा ॥ ७६ ॥

तत्स्थानत्वादनन्यधर्मः खले-वालीवत् ७७

(तत्स्थानत्वात्) प्रायश्चित्त स्थानी होने से (खलेवाली-वत्) खलेवाली की समान (अनन्यधर्मः) अन्य धर्म नहीं

है। खले अर्थात् खलियान में वाली अर्थात् जो काठ का टुकड़ा होता है उस से भी जुए के काठ का काम लिया जाता है तैसे ही प्रायश्चित्त के स्थान में भगवन्नाम का विधान है जैसे खलेवाली के समीप जितनी अन्न की वालें और दण्डी हों वह सब कुचल जाती हैं, तैसे ही भगवद्भक्त के अनन्य-बुद्धि से किये हुए अनुष्ठान के द्वारा भगवान् की शक्ति से बड़ीभारी भी पापराशि चूर्ण २ होजाती है। भक्ति का उदय होने पर पाप पुण्य के बन्धन का कुछ भय नहीं रहता है ७७

आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्या-त्सामान्यवत् ७८

(सामान्यवत्) अहिंसा आदि साधारण धर्मों की समान (पारम्पर्यात्) परम्परा से ऐसा होने के कारण (आनिन्द्य-योनिः) निन्दितयोनि पर्यन्त (अधिक्रियते) अधिकारी कीजाती है। अर्थात्—शास्त्रानुसार तामसिक चाण्डालादि का वेदाध्ययन आदि में अधिकार नहीं है, परन्तु भगवान् की भक्ति करने में किसी को रोकटोक नहीं है। भक्तिमार्ग में वर्ण वा जाति का विचार नहीं है। पुण्यात्मा वा पापात्मा रोगी वा भोगी रागी वा विरागी का विचार नहीं है। ऊँच नीच, श्रेष्ठ निकृष्ट का विचार नहीं है। मनुष्यों की बात दूर रही हाथी गिद्ध और वानर भी भक्ति के अधिकारी हुए हैं। विशेषकर भारतभूमि में अन्य द्वीपोंके निवासियों के लिये भक्ति के सिवाय भगवान् को पाने का और कोई उपाय

नहीं है, क्यों कि–वह सब स्थान कर्मभूमि नहीं हैं, भोगभूमि हैं इसकारण उन को कर्मके द्वारा ब्रह्मात्मज्ञान वा योगसिद्धि आदि की संभावना नहीं है, भक्ति ही जगज्जननी की समान जीवमात्र को पूर्ण आनन्द का अधिकार देती है ॥ ७८ ॥

अतो ह्यविपक्वभावानामपि तल्लोके

(अतः) इसकारण (अविपक्वभावानाम् अपि) नहीं पकी है पराभक्ति जिनकी उनका भी (तल्लोके) भगवल्लोकमें निवास होता है । अर्थात याग आदि करने पर स्वर्गादि मिलता है, यदि यज्ञविधिमें कुछ कमी रहजाय तो दोष लगता है, परन्तु भक्तिमार्ग में यह बात नहीं है, जिन की इस लोक में भक्ति के विषय में परिपक्वता नहीं होती उनका भी पुनर्जन्म नहीं होता, वह भगवान् के लोक में जाकर तहां ही परिपक्वता पाते हैं, भक्ति की जाज्वल्यमान शिखा में कर्मफल कामनारूप तृणोंका समूह भस्म होजाता है इस कारण भगवल्लोक के सिवाय अन्य कोई लोक ही भक्त के निवास के योग्य नहीं होता॥ ७९॥

क्रमैकगत्युपपत्तेश्च ॥८० ॥

(क्रमैकगत्युपपत्तेः च) क्रम से गति की प्राप्ति कही है । अर्थात्–जो भक्ति मार्गका अवलम्बन न करके अन्य मार्ग का आश्रय लेते हैं, उनके लिये इस जगत् में मोक्ष पाने के निमित्त क्रमोन्नति की व्यवस्था है, परन्तु भक्तिमार्ग के पथिकों की क्रमोन्नति नहीं होती है, परन्तु उनको इस काल

में मोक्ष न होने पर भी उनका पुनर्जन्म नहीं होता है॥८०॥

उत्क्रान्तिस्मृतिवाक्यशेषात् ॥८१॥

(उत्क्रान्तिस्मृतिवाक्यशेषात्) क्रमोल्लंघनमें स्मृति-वचन का प्रमाण मिलने से। अर्थात्—गीता में व्यवस्था दी है—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि यान्ति परां गतिम्॥" अर्थात्—कोई अत्यन्त दुराचारी हो वह भी यदि सब ओरसे चित्तको हटाकर केवल मेरी ही उपासना करता है तो उस को साधु समझो, क्योंकि उसका निश्चय ठीक है वह शीघ्र ही धर्मात्मा होता है और शान्ति पाता है, हे अर्जुन! मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता, जो मेरा आश्रय लेते हैं वह पापयोनि स्त्री, वैश्य, वा शूद्र होने पर भी परम गति पाते हैं॥ ८१॥

महापातकिनान्त्वार्त्तौ ॥८२॥

(महापातकिनाम् तु) महापातकियों की भक्ति तो (आर्त्तौ) आर्त्तभक्ति में गिनी जाती है। अर्थात्—महा-पातकियों को जब भक्ति का उदय होता है तब वह भी क्रम को लांघकर परमपद को पाते हैं शाण्डिल्य ऋषि का ऐसा अभिप्राय नहीं है। जिन को केवल अहैतुकी भक्ति का उदय होना है उन के ही लिये भगवान् ने

'अपि चेत्सुदुराचारो'। इत्यादि वाक्य कहे हैं। परन्तु जो पाप के पश्चात्ताप के लिये भगवान् की भक्ति करते हैं वह धर्म कर्म का क्रम लांघने के अधिकारी नहीं है उन को क्रम से निष्कामकर्म्म अवश्य करना होगा, तदनन्तर अन्तःकरण निर्मल होने पर पराभक्ति का प्रकाश होगा ॥ ८२ ॥

सैकान्तभावो गीतार्थ प्रत्यभिज्ञानात्

(सा) वह पराभक्ति (एकान्तभावः) एकान्तभाव है, (गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात्) गीता के अर्थ में इस का परिचय मिलने से। अर्थात्-गीता का मर्म प्रतीत होता है, कि-भगवान् में एकान्त निर्भरभाव ही भक्ति है, इसी से भगवान् ने कहा है कि-"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज॥८३॥

परां कृत्वैव सर्वेषां तथा ह्याह॥८४॥

(पराम्) पराभक्ति को (कृत्वा-एव) करके ही (सर्वेषाम्) सब का मुक्ति में उपयोग होता है (तथाहि) तैसा ही (आह) भगवान् ने कहा है। अर्थात्-भगवान् ने गीता में कर्म भक्ति और ज्ञान इन तीन विषयों को ही यथोचित प्रवृत्त किया है, परन्तु शाण्डिल्य ऋषि के मत में गीता के सब ही विषय पराभक्ति के पोषक हैं, कर्मभक्ति का उपादान और तदात्मज्ञान भक्ति की पराकाष्ठा है सार यह है, कि-भक्ति से ही सब को मोक्ष प्राप्त होती है, गीता कहती है-"भक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयम्।" हरएक प्राणी मेरी पराभक्ति को पाकर मुझे ही प्राप्त होगा इस में सन्देह नहीं है।

तृतीय अध्याय–प्रथम आन्हिक ।

भजनीयेनाद्वितीयमिदं कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात् ८५

(इदम्) यह (भजनीयेन) भजने योग्य भगवान् से (अद्वितीयम्) अभिन्न है (कृत्स्नस्य) सब के (तत्स्वरूपत्वात्) उन का स्वरूप होने से ॥ ८५ ॥

तच्छक्तिर्माया जडसमान्यात् ८६

(तच्छक्तिः) उन की शक्ति (माया) माया है (जड़सामान्यात्) जड़ के साथ सम्बन्ध होने से ॥ ८६ ॥

व्यापकत्वाद्व्याप्यानाम् ८७

(व्याप्यानाम्) व्याप्यों के (व्यापकत्वात्) व्यापक होने से अर्थात् पिचासी, छियासी और सतासीवें सूत्र का तात्पर्य यह है, कि–इस विश्व का निमित्त कारण और उपादान कारण ब्रह्म है। जो है वह त्रिकाल ही है जो नहीं है वह कभी नहीं था, इस समय भी नहीं है, और कभी नहीं होगा गीता कहती है–"नासतो विद्यतेऽभावो नाभावो विद्यते सतः" इस कारण सब ही ब्रह्मस्वरूप है उस से भिन्न नहीं है। ब्रह्म की जो शक्ति है उस को माया कहते हैं। यह जगत्-प्रपञ्च माया से ही उत्पन्न हुआ है। माया जब ब्रह्म में अव्यक्त अवस्था में रहती है उस समय जगत् नहीं होता। अव्यक्त के व्यक्त होने से ही जगत्प्रपञ्च की सृष्टि होती है। इस

माया का अस्तित्व है ऐसा भी कहा जासकता है और नहीं है ऐसा भी कहा जासक्ता है। जब ब्रह्म में लीन होती है तब इसका अस्तित्व नहीं होता और जब व्यक्त होती है तब इस का अस्तित्व है इसी कारण वेद में माया का नाम सद-सदात्मिका है। माया की व्यक्त अवस्था में जगत्प्रपञ्च और व्यक्त अवस्था में ही नामरूप आदि देखने में आते हैं उस समय एक ही सत् पदार्थ भिन्न २ दीखता है यह जगत् प्रपञ्च व्याप्य और स्वयं ब्रह्म व्यापक है। व्यापक ब्रह्म के सत होने से व्याप्य जगत्प्रपञ्च सत् है। साधारणरूपसे ब्रह्म को निमित्त-कारण और माया जगत् का उपादान-कारण कहाजाता है परन्तु वास्तव में ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण और उपादान दोनों कारण है, ब्रह्म में कुछ परिवर्त्तन नहीं होता परन्तु माया सदा बदलती रहती है॥ ८७॥

न प्राणि बुद्धिभ्योऽसम्भवात् ॥८८॥

निर्मायोच्चावचं श्रुतीश्च निर्मिमीते पितृवत् ॥ ८९ ॥

(प्राणि बुद्धिभ्यः) प्राणियों की बुद्धियों से (न) नहीं (असम्भवात्) असम्भव होने से (पितृवत्) पिता की समान (उच्चावचम्) ऊँचनीच को (निर्माय) रचकर (श्रुतीश्च) वेद को भी (निर्मिमीते) रचता है अर्थात्—यह जगत् किसी प्राणी की बुद्धि से उत्पन्न नहीं होसकता, क्योंकि—ऐसा होना असम्भव है, इस जगत् को रच कर भगवान् ने पिता की समान

श्रुति का उच्चारण कर दिया मनुष्य की बुद्धि अत्यन्त सीमाबद्ध है, इस संसार की सृष्टि करना तो दूर रहा परम ज्ञानी पुरुष भी एक साधारण धूलि के कण के तत्त्व को नहीं जानते जिस बुद्धि के बलसे इस विश्व की रचना हुई है वह महान् और असीम है। जैसे पिता पुत्र के कल्याण के लिये सदा व्यस्त रहता है तैसे ही भगवान् भी इस विश्व के कल्याण के लिये सदा व्यस्त रहते हैं ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

मिश्रोपदेशान्नेति चेत् स्वल्पत्वात्

(मिश्रोपदेशात्) मिश्र उपदेश होने से (न) ईश्वरोक्त नहीं है (इति चेत्) ऐसा कहो तो (स्वल्पत्वात्) थोड़ा होने से अर्थात्—वेद में भगवद्गुण वर्णन के सिवाय याग यज्ञादि का भी उपदेश जहां तहां है, यदि कहो कि—वह ईश्वरोक्त नहीं है तो शाण्डिल्य कहते हैं कि—कमकलाप चित्त-शुद्धि का साधक है, उस के विना हुए भगवद्भाव को समझने की शक्ति नहीं होती, अत्यन्त आवश्यकता होने से ही उस को कहा है वह भी बहुत थोड़ा है ॥ ९० ॥

फलमस्माद्बादरायणो दृष्टत्वात् ९१

(बादरायणः) बादरायण कहते हैं (फलम्) फल (अस्मात्) इस ईश्वर से होता है (दृष्टत्वात्) देखा है इस कारण अर्थात् बादरायण कहते हैं, कि—सब फल ईश्वर ही से प्राप्त होता है। वेदान्तसूत्र प्रथमपाद का दूसरा सूत्र है कि—'जन्माद्यस्य यतः' जिस सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ कारण से इस विश्व

की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती हैं और जो विश्व के नाम और रूपोंसे व्यक्तभाव को धारण करता है तथा जिस में अनेकों प्रकार के कर्त्ता और भोक्ता हैं जो कर्म फल का आधाररूप है, जो सकल कर्मों का भिन्न २ देश, काल कारण है और जिस देश काल पात्र की महिमा मन के अगम्य है; वह कारण ही ब्रह्म है, सार यह है कि-भगवान् ही सब कर्म्मों के फलदाता है ॥ ९१ ॥

व्युत्क्रमादपायस्तथा दृष्टम् ॥ ९२ ॥

(व्युत्क्रमात्) अनुलोम क्रम से (अपायः) लय होता है (तथा) तैसा (दृष्टम्) देखा है। अर्थात्-सृष्टि जिस क्रमसे होती है उस के विपरीत क्रमसे उस का लय होता है सृष्टि का क्रम यह है, कि-ब्रह्म से प्रकृति और प्रकृति से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी होती है, और लय का क्रम यह है-पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश प्रकृति में और प्रकृति ब्रह्म में लीन होती है॥ ९२॥

द्वितीय आन्हिक ॥

तदैक्यं नानात्वैकत्वमुपाधियोग- हानादादित्यवत् ॥ ९३ ॥

(तदैक्यम्) उस ईश्वर की एकता है (आदित्यवत्) सूर्य की समान (उपाधियोगहानात्) उपाधि के योग

और वियोग होने से (नानात्वैकत्वम्) अनेकता और एकता है। अर्थात्–जैसे जलभरे अनेक पात्रों में प्रतिबिंब पड़ने पर एक ही सूर्य अनेक दीखता है और उन पात्रों का जल डाल देने से एक आकाशवर्त्ती सूर्य ही दीखता है तैसे ही संसार के नामरूपों से अनेकों मूर्त्तियों में भगवत्सत्ता का दर्शन होता है परन्तु नामरूप के दूर होते ही संसार और भगवान् में कुछ भेद नहीं रहता ॥ ९३ ॥

पृथगिति चेन्न परेणासम्बन्धात्-प्रकाशानाम् ॥ ९४ ॥

(पृथक्) भिन्न है (इति चेत् न) यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं है (प्रकाशानाम्) प्रकाशों की समान (परेण) परमात्मा के साथ (असम्बन्धात्) सम्बन्ध नहीं होगा अर्थात् द्वैतवादी कहते हैं कि–विश्व ब्रह्म से भिन्न है अर्थात् रचने वाला सृष्टि से भिन्न पदार्थ है। यदि विश्व के मूल कारण को भिन्न माना जाय तो सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म और ब्रह्म से भिन्न पदार्थ यह दो वस्तु माननी होंगी ऐसा होने से ब्रह्म सीमावाला हो जायगा और उसका ब्रह्मत्व ही नहीं रहेगा इस कारण ब्रह्म से भिन्न और कोई पदार्थ ही नहीं है और वही जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण है ॥ ९४ ॥

न विकारिणस्तु करणविकारात् ९५

(विकारिणः तु न) सांसारिक पदार्थ भगवान् का विकार

नहीं है (कारणविकारात्) कारण में विकारशङ्का होने से। अर्थात् यदि संसार को भगवान् का विकार माना जाय तो निर्विकार नारायण में भी विकार का दोष आवेगा, वास्तव में ब्रह्म निर्विकार है॥ ६५॥

अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयाद त्यन्तम्॥ ९६॥

(अनन्यभक्त्या) अनन्यभक्ति से (अत्यन्तम्) अत्यन्त (बुद्धिलयात) बुद्धि के लय से (तद्बुद्धिः) भगवद्बुद्धि का उदय होता है अर्थात्—जीव भ्रमरकीट की समान अनन्य भक्ति से भगवान् की आराधना को करने पर सुख दुःखादि से रहित होकर परमानन्द को प्राप्त होजाता है॥ ६६॥

आयुश्चिरमितरेषां तु हानिरना-स्पदत्वात्॥ ९७॥

(इतरेषाम्) अन्य जीवों की (आयुः) आयु (चिरम्) चिरकाल होती है परन्तु भक्त की (अनास्पदत्वात्) भोगास्पद न होने से (हानिः) सञ्चित कर्मों का नाश होजाता है अर्थात् कर्मों का क्षय हुए विना केवल भक्ति से ही मुक्ति कैसे होगी? इस सन्देह के दूर करने को शाण्डिल्य कहते हैं, कि—भक्तों की परमायु साधारण मनुष्य की समान होने पर भी उन को भगवद्वियोग का एक एक मुहूर्त्त सैंकडों कोड़ कल्पवर्ष नरकयातना की समान और भगवत्स्मरण

का एक एक क्षण लाखों वर्ष के स्वर्गभोग की समान होता है, इस वियोग संयोग की रगड़ से भक्तों के शुभ अशुभ सकल अदृष्ट भस्म होजाते हैं ॥ ९७ ॥

संसृतिरेषामभक्तिः स्यान्नाज्ञात् कारणासिद्धेः ॥ ९८ ॥

(कारणासिद्धेः) कारण की असिद्धता होने से (एषाम्) इन की (अभक्तिः) भक्तिशून्यता (संसृतिः) संसार (स्यात्) होगी (अज्ञानात्) अज्ञान से (न) नहीं। अर्थात् अज्ञान नामक कोई एक पदार्थ नहीं है इस कारण वह कर्ता नहीं होसकता भगवान् की अघनघटनापटीयसी माया से ही जीव संसार से बँधता है उन भगवान् की भक्ति करनेसे ही जीव मुक्ति पाता है, भक्ति का उदय न होने से जीव को वारम्वार संसारचक्र में घूमना पड़ता है ॥ ९८ ॥

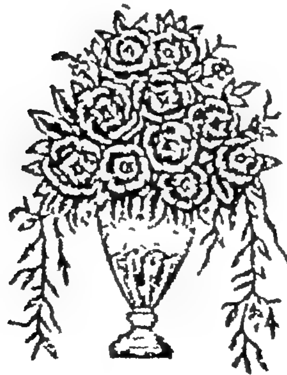
त्रीण्येषां नेत्राणि शब्द लिङ्गाक्षि-भेदात् रुद्रवत् ॥ ९९ ॥

(रुद्रवत्) महादेव की समान (एषाम्) इन जीवों के (शब्दलिङ्गाक्षिभेदात्) शब्द लिङ्ग और अक्षि के भेद से (त्रीणि) तीन (नेत्राणि) नेत्र हैं। अर्थात्-इतना विषय जानने के लिये मनुष्य को त्रिनेत्र होना पड़ता है। वेदादि शास्त्र प्रमाणरूप कुछ शब्द अनुमान प्रमाणरूप कुछ लिङ्ग से और इन्द्रियगोचर ज्ञान वा प्रत्यक्ष प्रमाणरूप अक्षि यह ३ नेत्र हैं, इनसे ही कार्य लेना होता है ॥ ९९ ॥

आविस्तिरोभावा विकाराःस्युः क्रिया-फलसंयोगात् ॥ १०० ॥

(आविस्तिरोभावाः) उत्पत्ति और प्रलयरूप (विकाराः विकार (क्रियाफलसंयोगात्) क्रियाफल के संयोग से (स्युः) होते हैं अर्थात् निर्विकार परब्रह्म में वास्तव में कोई विकार नहीं है किन्तु अपने मन की चपल तरङ्ग की दृष्टि में उत्पत्ति उच्छ्वास उपसंहाररूप क्रियाप्रतीति होने से विकार की प्रतीति होती है, अन्तःकरण की शुद्धि के अनन्तर भगवत्स्वरूप का ज्ञान होने पर जब निर्मला भक्ति का उदय होगा तब ही जीव अपने आनन्दस्वरूप में विराजमान होगा, इस कारण भक्ति ही प्रधान है ॥ १०० ॥

भाषाव्याख्या सहित शांडिल्य कृत भक्तिसूत्र समाप्त इति




सनातनधर्म प्रेस मुरादाबाद
MORADABAD.

ॐ

* श्रीगणेशाय नमः *

पुरुष-उपदेश-पत्र



संस्कृतमूल और भाषाटीका

जिसको-

स्वामी नर्मदानन्द ब्रह्मचारीने

धार्मिक पुरुषोंके हितार्थ रचकर

सनातनधर्म प्रेस

मुरादाबादमें छपाया

सम्वत् १९७०

Printer & Publisher-

Pt. Ramswarup Sharma

Sanatan dharm Press

MORADABAD,

॥ ॐ हरिः ॥

पुरुष—उपदेश—पत्रम्

१—सत्यं वद ।

सत्य बोलना ।

२—यावच्छक्यं मिथ्याभाषणं मा कुरु ।

अपनी शक्ति भर झूठ नहीं बोलना ।

३—परद्रव्यं मा हार्षीः ।

पराई वस्तु नहीं चुराना ।

४—द्यूतक्रीडा न कर्त्तव्या

जुवा नहीं खेलना ।

५—केनापि सह वञ्चकत्वं धूर्त्तत्वञ्च मा कुरु ।

किसीके साथ ठगाई व धूर्त्तपन नहीं करना ।

६—केनापि साकं ईर्षा न कर्त्तव्या ।

किसीके साथ ईर्षा (खार) नहीं करना ।

७—कस्यापि विषये पैशुन्यं मा कुरुत ।

किसीकी चुगली नहीं करना ।

८—केनचित् सह कलहं विवादञ्च मा कुरु ।

किसीके साथ लड़ाई झगडा नहीं करना ।

९—केनापि सह विरोधो न कर्त्तव्यः ।

किसीके साथ वैरभाव नहीं रखना ।

१०-सर्वस्य कल्याणमभिलषेः ।

सबके कल्याण की इच्छा करना ।

११-कस्मा अपि दुश्चिन्तनं न कर्त्तव्यम् ।
किसीका बुरा चिन्तवन नहीं करना ।

१२-केनापि सह विश्वासघातो न कर्त्तव्यः ।
किसी के साथ विश्वासघात न करना ।

१३-केनापि सह कृतघ्नत्वं न कार्यम् ।
किसीके हाथ कृतघ्नता (कियेहुए उपकार को न मानना) न करना ।

१४-यः स्वसमीपमागच्छेत्तस्य सत्क्रिया कर्त्तव्या, यदि सः शत्रुरपि स्यात् ।
जो अपने समीप आवे उसका सत्कार करना, चाहे वह शत्रु भी हो ।

१५-आर्त्तस्य भक्तस्यच सर्वथा रक्षा कर्त्तव्या ।
दीन और भक्तकी हर प्रकारसे रक्षा करना ।

१६-अनाथस्य हीनाङ्गस्य दीनस्य दुःखितस्य चोपहासो न कार्यः ।
अनाथ, अंगहीन, दीन और दुखियों का हास्य न करना

१७-अहङ्कारं मा कुरु ।
अहंकार नहीं करना ।

१८-कस्मादपि मानं नेच्छेत् ।
किसीसे मान्यकी इच्छा नहीं रखना ।

१९-केनापि सह दम्भित्वं न करणीयम् ।
किसीके साथ पाखण्ड नहीं करना ।

२०-सर्वभूतेभ्य आत्मानं लघु जानीत ।
सर्व प्राणियों से अपने आप को छोटा मानो ।

२१-परेषां दुःखमवलोक्य प्रसन्ना न भवेत किंतु तद् दृष्ट्वा निजदुःखं स्मरत ।

परदुःख देखकर प्रसन्न नहीं होना अर्थात् परदुःख देखकर अपने दुःख को याद करना ।

२२-परसुखं समीक्ष्य प्रसन्नो भव ।

परसुख देखकर प्रसन्न होना ।

२३-जीवहत्या न कर्त्तव्या ।

जीवहिंसा नहीं करना ।

२४-परमन्यो मनुष्यः जीवहत्यां कुर्यात्तर्हि यथाशक्ति तमुपदिश्य प्राणिरक्षा कर्त्तव्या ।

परन्तु अन्य मनुष्य जीवहिंसा करता हो तो अपनी शक्ति अनुसार उसको उपदेश देकर जीवरक्षा करनी ।

२५-विना प्रयोजनं कस्मैचिदपि कठोरवचनं न प्रयोक्तव्यम्, (इदमपि जीवहिंसासममेव)

किसीको विना कारण कठोर वचन नहीं कहना (यहभी जीवहिंसा के समान है)

२६-कारणाभावे कस्मादपि वृक्षात् पत्रपुष्पफलशाखादिकं न पृथक् करणीयम् ।

विना कारण किसी वृक्ष के पत्र फूल फल शाखा आदि नहीं तोड़ना ।

२७-मद्यं न पेयम् ।

मद्य नहीं पीना ।

२८-मांसं न भक्षणीयम् ।

मांस नहीं खाना ।

२९-मादकं वस्तु न सेवनीयम्।

नशीली वस्तुको नहीं खाना।

३०-मदोन्मत्तस्य संमुखे न गन्तव्यं तथा तेन सह सम्भाषणमपि न कर्त्तव्यम्।

मतवाले (नशेबाज) के सामने नहीं जाना तथा उस से वार्त्तालाप भी नहीं करना।

३१-क्रोधो न कर्तव्यः।

क्रोध नहीं करना।

३२-अन्यो मनुष्यः क्रुध्येत् चेत्तर्हि मौनधारणं कर्त्तव्यम्।

अन्य मनुष्य क्रोध करे तो मौन धारण करना

३३-मोहः परिवर्जनीयः

मोहका त्याग करना।

३४-दृष्टेरन्तर्हितस्य (विदेशगतस्य, मृतस्य वा) प्राणिनश्चिन्तनं मोह इत्युच्यते।

सम्मुख नहीं होने वाले (विदेश गये हुए तथा मरेहुए) उनका चिन्तवन करना मोह कहलाता है।

३५-कस्मिंश्चिदपि कर्त्तव्ये कर्मणि वस्तुप्राप्तौ वा चिंता न कर्त्तव्या, यथा च लभ्येत स यत्नः कर्त्तव्यः,परन्तु सत्स्वरूपस्य परमात्मनश्चिन्तनं कर्त्तव्यम्।

किसी कर्त्तव्य कर्मके विषयमें तथा वस्तु की प्राप्तिके विषय में चिन्ता नहीं करना जिसप्रकार प्राप्त होसके वो यत्न करना परन्तु सत्स्वरूप परमात्मा का चिन्तवन करना।

३६-विपदि धैर्यं धारणीयम्।

विपत्के समय धैर्य्य को धारण करना।

३७-कस्याप्यनुकृतिर्न करणीया परन्तु सत्कर्मणोऽनुकरणं न दोषावहम् ।
किसीका अनुकरण (देखा देखी) न करना परन्तु सत्कर्म का अनुकरण करनेमें कुछ दोष नहीं है ।

३८-सर्वेभ्यो विषयेभ्य इन्द्रियनिग्रहः कार्यः ।
प्रत्येक विषयों से इन्द्रियों को रोकना

३९-स्वल्पपदार्थप्राप्तौ सन्तोषः कर्त्तव्यः ।
थोड़ी वस्तु प्राप्त होनेपर संतुष्ट रहना

४०-निजकुटुम्बतश्चोरयित्वा किमपि वस्तु न भक्षणीयम् ।
अपने कुटुम्बसे चुरा कर कोई पदार्थ नहीं खाना

४१-स्वकौटुम्बिकानां पुरुषाणां यथार्ह विनयेन सह सेवा कर्त्तव्या ।
अपने कुटुम्बके योग्य मनुष्योंकी नम्रतासे सेवा करना

४२-निजकुम्बस्थस्य पुरुषस्य आज्ञानुकूलं व्यवहर्त्तव्यम् ।
अपने कुटुम्बके मनुष्य की आज्ञानुकूल चलना ।

४३-यस्य कार्यस्य करणे स्वकुटुम्बिनः प्रसन्ना न स्युः स कार्यो न कर्त्तव्यः ।
अपने कुटुम्बीजन जिस कार्य के करने में प्रसन्न नहीं हों उस कार्य को नहीं करना ।

४४-भवतां शुभकर्माणि यदि तेषां ज्ञानाविषयाणि न स्युस्तर्हि ते प्रार्थनापुरःसरं निवेदनीया अस्मिन् कार्येऽयं गुण इति ।
तथा तुम्हारा शुभ कर्म उनकी समझमें नहीं आया हो तो प्रार्थनापूर्वक उनसे निवेदन करना कि इस कार्यमें

यह गुण है ।

४५-सत्कार्यानुष्ठाने कश्चित्कुटुम्बी कश्चिदन्यो वा पुरुषः निषेधेत् तर्हि मा स्वीकुरुत ।

उत्तम कर्म करनेमें कोई कुटुम्बीजन तथा और कोई मनुष्य मना करता हो तो मत मानो ।

४६-असत्कर्मकरणाय कश्चित्परिवारगतः पुरुषोऽन्यो वा आज्ञापयेत् तर्हि माङ्गीकुरुत ।

नीच कर्म करनेमें कोई कुटुम्बीजन तथा अन्य मनुष्य आज्ञा दे तो मत करो ।

४७-देशविरुद्धं वस्त्रं न धारणीयम् ।

देशविरुद्ध वस्त्र मत पहिनो ।

४८-फाल्गुनमासादिसमयेऽपि लज्जाजनकं कुवचनं मोच्चारयत ।

फाग आदि मास में भी कुवचन तथा निर्लज्ज शब्दों का उच्चारण मत करो ।

४९-सदा ब्रह्मचर्यपालनं कर्त्तव्यम् ।

सदा ब्रह्मचर्य का पालन करना ।

५०-सर्वदा निजनार्यामेव मनोवृत्तिर्विनिवेश्या ।

सदा स्वस्त्री में मनको तत्पर रखना ।

५१-निजाङ्गना योग्यकर्मणि शिक्षणीया ।

स्वस्त्री को योग्य कर्मके निमित्त शिक्षा देते रहना ।

५२-निजपत्नी कुमार्गेण वर्त्तयन्ती चेदवश्यमेव ताडनीया ।

स्वस्त्री को कुमार्ग का बरताव करनेसे अवश्य ताडना करना ।

७२-मातापितरौ गुरुञ्च दृष्ट्वैव उत्थाय प्रणमत ।
माता पिता और गुरु को देखते ही उठकर प्रणाम करना
७३-मातापितरौ गुरुञ्च पृष्ठतः कृत्वा न स्थातव्यम् ।
माता पिता और गुरुको पीठ देकर नहीं बैठना ।
७४-मातापित्रोर्गुरोश्चापि गुणयुक्तोपदेशस्योल्लङ्घनं कदापि न कर्त्तव्यम् ।
माता पिता और गुरुकी गुणदायक आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं करना ।
७५-जीवयुक्तान् शाकपुष्पफलादीन् पदार्थान् न खादत ।
जिन शाक फूल फल पदार्थ में जीव हों उन्हें नहीं खाना
७६-मद्यवद्गन्धयुक्तान् शाकपुष्पफलमूलादीन् मा भक्षत ।
जिस शाक फूल फल कंद आदिमें मदिराकीसी गंध आतीहो उसे नहीं खाना ।
७७-अतिमधुरं भोजनं न कर्त्तव्यम् ।
बहुत मीठा भोजन नहीं करना ॥
७८-पर्युषितं धातुदूषितञ्चान्नं न भक्षणीयम् ।
वासी तथा कसैला अन्न नहीं खाना ।
७९-अवस्त्रपूतं जलं न पेयं, प्रातरन्नभोजनात्पूर्वमपि जलपानमहितकरम् ।
वस्त्रसे विनाछाने जल न पिये और प्रातःकाल भोजनसे पहिले (निन्ने मुह) जल पीना भी हानि करता है ।
८०-क्षुधातो न्यूनं भोजनं कर्त्तव्यम् ।
भूखसे कम भोजन करना
८१-यदा बुभुक्षा बाधेत तदैव भोजनं करणीयम् ।

जिस समय भूख लगे उसी समय भोजन करना ।

८२-स्वादुरूपेणौषधं न सेव्यम् ।

स्वाद ले ले कर औषध नहीं पीना ।

८३-औषधममृतरूपं मत्वा सेवनीयम् ।

औषधिको अमृतसमान जानकर सेवन करना ।

८४-औषधसेवनसमये यो दुःखितो भवति स पापेन लिप्यते ।

औषधि सेवन करते समय जो दुःखित होताहै वह पापसे लिप्त होता है ।

८५--अध्वनि गमनकाले भूमिं निरीक्ष्य पादं निक्षिपेत् ।

मार्गमें चलते समय पृथ्वीको देखकर पैर धरे ।

८६-आकाशमभ्रत्यवलोक्य गमनेन जीवहिंसा रोगाद्यनेककष्ट-प्राप्तिश्च भवत्यतो भूमिं विलोक्य व्रजत ।

आकाशकी ओरको देखकर चलने से जीवहिंसा व अनेक रोगादि कष्ट होते हैं इससे भूमिकी ओरको देखकर चलो

८७-केनाप्यन्यपुरुषेण दृष्टिमेलनं न कर्त्तव्यम् ।

किसी अन्य पुरुषसे दृष्टि नहीं मिलाना ।

८८-मार्गे गच्छन् वृक्षशाखां तृणादिकञ्च मा छेत्सीः ।

मार्गमें चलते समय वृक्षकी डाली तथा तृण आदि नहीं तोड़ना ।

८९-अज्ञातगाम्भीर्यें कस्मिन्नपि खाते नद्यां वा न प्रवेष्टव्यम्

गहराई विनाजाने किसी खाई व नदीमें नहीं घुसना ।

९०-दिवा शयनं न कर्त्तव्यम् '

दिनमें नहीं सोना ।

९१-रात्रौ न जागृतव्यं, पञ्चघटा (पञ्चदशघटिका) कालं

शयनं कर्त्तव्यं, गुरुजनेभ्यः पश्चात् शयितव्यं पूर्वञ्चो-
त्थातव्यम्।

रातमें नहीं जागना तथा छः घण्टे (पन्द्रह घड़ी) सोना, अपने बड़ों से पीछे सोना और पहिले उठना।

१२-कस्मिन्नपि मिथ्या साक्ष्यं न देयम्।

किसी विषयमें झूठी साक्षी (गवाही) नहीं देना

१३-द्व्यधिकसंख्याकेषु पुरुषेषु सत्स्वीश्वरकीर्त्तनयुक्तां सद्व्यवहारयुक्ताञ्च वार्त्तां कुरुत।

दो से अधिक पुरुषों की संख्या होनेपर उत्तम वार्ता करना जो ईश्वरकथा तथा व्यवहारयुक्त हो।

१४-शौचं पावित्र्यञ्च स्वीकुरुत।

शौच और पवित्रताई से रहना।

१५-प्रत्यहं स्नानं कुरुत।

प्रतिदिन स्नान करना।

१६-स्नानश्रद्धाभावे शरीरे रोगिणि वा सन्ध्याकाले पुनन्त्विति मंत्रेण मार्जनं विधाय शुद्धिः कर्त्तव्या।

स्नान करने की श्रद्धा नहीं होनेपर तथा शरीर रो[illegible] होनेपर संध्यामें पुनन्त्विति कहेहुए मंत्रसे मार्जन [illegible] शुद्धि करना।

१७-उपरिष्पतज्जलतो जलस्याधः स्थित्वा स्नानं मा कुरु[illegible]

ऊपरसे गिरते हुए जलके नीचे खड़े होकर स्नान [illegible]

१८-जले क्रीड़ां मा कुरुत।

जल में खेल मत करो।

१९-नग्नो भूत्वा मा स्नाहि।

नग्न होकर स्नान नहीं करना।

१००-सतां सङ्गः कर्त्तव्यः ।

सत्पुरुषोंका सङ्ग करना ।

१०१-संध्याबलिवैश्वदेवाख्यं कर्म च प्रतिदिनं कर्त्तव्यम्

संध्या व बलिवैश्वदेव नित्यप्रति करना ।

१०२-ईश्वरस्मरणं प्रच्छन्नं करणीयम् ।

ईश्वरस्मरण गुह्यरूप से करना ॥

१०३-ईश्वरस्मरणकाले मातापित्रोः गुरोः स्वामिनो वा आगमने सति तेषां सेवाकर्मोपस्थितौ वा प्रथमं सेवाकार्यं कृत्वा तत ईश्वरस्मरणं पूर्णरूपेण कर्त्तव्यम् ।

ईश्वरस्मरण के समय माता पिता गुरु तथा स्वामी का आगमन होनेपर तथा उनकी योग्य सेवा होनेपर प्रथम सेवा करो फिर ईश्वरस्मरण को पूर्ण रूपसे करो ।

१०४-निराहारव्रतकरणेन यदि दुःखं स्यात् यदि वा भगवत् स्मरणे बाधा आपद्येत तर्हि तादृशं व्रतं मा कुरुत ।

निराहार व्रत करनेसे दुःख हो तथा ईश्वरस्मरण नहीं हो सकता हो तो ऐसे व्रत को मत करो ।

१०५-निराहारव्रतचरणाशक्तो फलाहारपूर्वकं व्रतं कर्त्तव्यम्

निराहार व्रत न होसके तो फलाहार लेकर व्रत करना योग्य है ।

१०६-गृहकार्यतः प्राप्तावसरानुसारेण सत्यविद्यापुस्तकानि द्रष्टव्यानि येभ्यः सत्कर्मानुष्ठानपूर्विका ब्रह्मप्राप्तिः (मुक्तिः) स्यात् ।

गृहकार्यसे समय मिलनेके अनुसार सत्य विद्याके ग्रन्थ देखो जिनसे सत्कर्म की प्राप्ति होकर ब्रह्म (मोक्ष) की प्राप्ति हो।

१०७-निजबालकान् (कन्याः पुत्रांश्च) विद्यां पाठयत।

अपने बालकों (कन्यापुत्रों) को विद्या पढ़ाना।

१०८-बालकेषु लालनं विहाय विद्याभ्यासाय ताडनं कर्त्तव्यम्।

विद्या पढानेके समय बालकों को लाड़ न करके ताड़ना करत रहना।

१०९-बालकेभ्यः प्रहरणस्य गालिप्रदानस्य च शिक्षा न देया।

बालकोंको मारना गाली आदि कुवचन नहीं सिखाना

११०-बालकेभ्यःगृहकार्यशिक्षा सदाचारशिक्षा च यथोचितादेया।

बालकों को गृहकार्य व शुद्ध आचार यथायोग्य सिखाना।

१११स्वपुत्रान् समये यज्ञोपवीतधारिणः कारयत।

अपने लड़कों को समय पर यज्ञोपवीत धारण करवाना

११२-कन्याविक्रयं मा कुरुत।

कन्याविक्रय नहीं करना अर्थात् कन्या पर द्रव्य लेकर विवाह नहीं करना।

११३-वेदपाठिने, तपस्तत्पराय, सदाचारविचारवते पक्षपात-विहीनाय ब्राह्मणाय दानं मेघमुखे जलवत् परमोत्तमम्।

वेदपाठी तपस्या-युक्त शुद्ध आचार-विचार-युक्त पक्षपात से रहित ऐसे ब्राह्मणको दान देना अति उत्तम है जैसे बादलके मुखमें जल।

११४-त्रिकालसन्ध्यानुष्ठात्रे शुद्धाचारविचारवते तपोयुक्ताय ब्राह्मणायापि दानमुत्तमम्।

त्रिकाल सन्ध्या शुद्ध आचार विचार तपस्या युक्त ब्राह्मण कोभी दान देना उत्तम है ।

११५-शान्तस्वभावाय सत्कर्मकुर्वते ब्राह्मणायापि दानमुचितम्। शान्तस्वभाव उत्तम कर्म करने वाले ब्राह्मण को भी दान देना योग्य है ।

११६-विद्याविहीनाय गायत्रीजपपराङ्मुखाय सन्ध्याकर्मत्यागिने ब्राह्मणाय दानं भस्मनि आहुतिदानमिव निष्फलम्। विद्याहीन गायत्रीजप सन्ध्याकर्म से हीन ब्राह्मण को दान देना निष्फल है जैसे भस्मके वीच आहुतिका देना।

११७-मद्यपाय, मांसाशिने, निन्दकाय,परस्त्रीसक्ताय, दर्पपरायणाय, अहंकारिणे,द्यूतचौर्यादिदुराचारतत्पराय ब्राह्मणाय दानं निष्फलं भवति यश्च पुरुषो मोहमापन्न एवं विधाय ब्राह्मणाय ददाति तं दातारं तत्कृतं पापकर्मफलं तत्कालमेव स्पृशति ।

मद्यमांस खानेवाला निन्दक परस्त्रीसेवी अहंकारी द्यूत कर्मी चोरी अदि दुराचार कर्म करने वाले ब्राह्मण को दान देना निष्फल है और जो पुरुष ऐसे ब्राह्मण को मोहवश होकर दान देता है उस दाता को उस ब्राह्मण के किये हुए पापकर्मका फल तत्काल लगता है ।

११८-यश्च ब्राह्मणः सर्वगुणसम्पन्नः सन् धनं सञ्चिनोति तस्मा अपि दानं निष्फलं भवति ।

सर्वगुणसम्पन्न होकर जो ब्राह्मण द्रव्य सञ्चित करता हो उसे भी दान देना निष्फल होता है ।

११९—यो ब्राह्मणः संमुखे भवन्तमत्यन्तं प्रशंसति तस्मै दानमपि निष्फलं भवति।

जो ब्राह्मण अपनी (तुमारी) मुखपर अतिप्रशंसा करता है उसको दान देना भी निष्फल है।

१२०—दानं कृत्वा फलेच्छा न कर्त्तव्या।

दान देकर फलकी इच्छा नहीं करना।

१२१—लघुदानेन महद्दानभावना न विधेया यथा गोदानतो गोभावना।

कनिष्ठ दानसे महत्‌दान की भावना नहीं करना जैसे गोदानसे गौ की भावना।

१२२—यथाशक्ति अन्नवस्त्रादिभिर्दीनब्राह्मणपालनं कर्त्तव्यम्।

गरीब द्विजका पालन अन्न वस्त्रादि द्वारा यथाशक्ति करना।

१२३—उद्वाहोचिताया निर्धनद्विजकन्याया विवाहो यथाशक्ति धनं दत्वा कारयितव्यः।

गरीब द्विजकन्या विवाह योग्य होनेपर यथाशक्ति द्रव्य देकर विवाह करवाना।

१२४—उपनयनसंस्कारयोग्यस्य निर्धनद्विजपुत्रस्य यज्ञोपवीत-संस्कारोऽपि यथाशक्ति धनदानेनकारयितव्यः।

गरीब द्विजपुत्रके उपनयन संस्कार योग्य होनेपर यथा-शक्ति द्रव्य देकर संस्कार करवादो।

१२५—यत्र बालिका बालका वा पठेयुस्तत्र पाठशालायां यथा शक्ति धनं देयम्।

पाठशाला में जहां कन्या बालक पढ़ते हों वहां यथा शक्ति द्रव्यदान दो ।

१२६-भोजनवेलायामागतायातिथये यथाशक्ति भोजनं देयम्, यदि सः शान्तस्वभावःसद्‌गुणयुक्तश्च स्यात् ।

भोजन के समय आयेहुए अतिथिको शक्ति अनुसार अन्न देना (शान्तस्वभाव उत्तम गुण युक्त हो तो)

१२७-निर्धनाय नेत्रहीनाय पंगवे रोगिणे कुष्ठिने दुर्बलाय दुःखिने यथासामर्थ्यमन्नवस्त्रादिकं देयम् ।

गरीब अन्धा लूला लँगड़ा रोगी कुष्ठी दुर्बल दुःखी को अन्न वस्त्र शक्तिअनुसार दान दो ।

१२८-आनाथानां निराश्रयाणां वालकानां कन्यानां वृद्धानाञ्च यथाशक्ति पालनं कर्त्तव्यम् ।

अनाथ वालक कन्या वृद्ध हों और उनके पालन होने की व्यवस्था न हो तो यथाशक्ति पालन करो ।

१२९गोकुक्कुरादिपशुभ्यो यथाशक्ति अन्नं देयम् ।

गो श्वान आदि पशुओं को शक्ति अनुसार अन्न देना।

१३०-पक्षिभ्योऽपि यथाशक्त्यन्नं देयम् ।

पक्षियों को भी शक्ति अनुसार अन्न देना ।

१३१-धेन्वादिपशुभ्यो यथाशक्ति तृणं जलञ्च देयम् ।

गौ आदि पशुओं को यथाशक्ति तृण जल देना ।

१३२-कस्यापि दानस्य मूल्यरूपं धनं न देयम् ।

किसी दानका निष्क्रय (नगदी) द्रव्य नहीं देना ।

१३३-पूर्णदानस्य श्रद्धाभावे न्यूनं धनं न देयम्, दानस्येच्छापि न कर्त्तव्या,केवलमीश्वरस्मरणमेव कर्त्तव्यं तत्मतापेनैव गहनान्यपि दानानां फलमवाप्यते ।

पूर्णदान देनेकी श्रद्धा नहीं होनेपर थोड़ा द्रव्य नहीं देना और न दान देनेकी इच्छा करनी केवल ईश्वरस्मरण करना उसीकेप्रतापसे बड़े बडे दानों का फल प्राप्त होताहै।

१३४-कस्मैचिन्निःसङ्गाय साधवे मुद्राधनं न देयम् ।

किसी निहंग साधुको नगदी द्रव्य नहीं देना ।

१३५-यत्र जलाभावस्तत्र जलदानं कर्त्तव्यम् ।

जिस स्थानपर जलका अभाव हो वहां पर जलदान दो।

१३६-देवमन्दिरे कूपतडागादिकञ्च यदि जीर्णं स्यात् तर्हि यथाशक्ति धनं दत्वा जीर्णोद्धारः कारयितव्यः ।

जीर्ण देवस्थान कूप तालाव आदि हों तो उन्होंका यथाशक्ति द्रव्य दान देकर जीर्णोद्धार करवाना ।

१३७-देवालये मुद्राधनं न समर्पणीयं, द्रव्यस्थाने अन्नघृत धूपनैवेद्यतैलपुष्पादिकं परमेश्वराय समर्पणीयम् ।

देवस्थानमें नगदी द्रव्य नहीं चढाना द्रव्यके स्थानमें अन्न घृत धूप नैवेद्य तेल फल फूल आदि ईश्वर अर्पण करना।

१३८-देवमन्दिरे बहुकालं न स्थेयं, यस्या देवप्रतिमाया दर्शनं कृतं भवेत् गृहमागत्यापि तस्या एव देवमूर्त्तेःसावधान-तया ध्यानं कर्त्तव्यम् ।

देवस्थानमें अधिक समय तक नहीं ठहरना जिस प्रतिमा के दर्शन किये हों उसी प्रतिमा का घर आनेबाद स्वस्थ होकर ध्यान करना ।

१३९-सर्वेषु देवेषु ब्रह्मभावना कर्त्तव्या, जगति सर्वेषु पदार्थेषु ब्रह्मण एव प्रकाशोऽस्ति ।

सर्व देवताओं में ब्रह्मभाव मानना इसी प्रकार संसारकी कुल वस्तु में ब्रह्म का प्रकाश है ।

१४०'कस्याश्चिदपि देवताया न्यूनाधिक्यं कथयित्वा निन्दा न करणीया ।

किसी देवताओं को छोटा बड़ा कहकर निन्दा नहीं करना ।

१४१'पितृश्राद्धं कर्त्तव्यम् तत्रैकस्त्रयो वा वेदपाठिनो ब्राह्मणा भोजयितव्याः ।

पितृश्राद्ध करना पितृश्राद्ध में एक तथा तीन वेदपाठी ब्राह्मणों को भोजन करवाना ।

१४२'शास्त्रे नास्तिक्यं न करणीयम् (अर्थात् प्राक्तनसच्छास्त्रमज्ञात्वा नवीनकल्पितग्रन्थेषु सत्यत्वबुद्धिः)

शास्त्रसे नास्तिकपन नहीं करना (अर्थात् प्राचीन सत्यशास्त्र को नहीं जानकर, आधुनिक कल्पित ग्रन्थ को सत्य मानना नास्तिकपन है ।

१४३-वेदशास्त्रस्य धर्मशास्त्रस्य च शासनं सदा स्वीकिरणीयम्

सदा वेदशास्त्र और धर्मशास्त्रको मानना ।

१४४-वेदशास्त्राणि दृष्ट्वैव प्रणामं कुरुत ।

वेदाशास्त्र को देखकर प्रणाम करना ।

१४५-इदमेव वैष्णवं धर्मं वेदानुकूलं एतानि वाक्यान्यनुसृत्य वर्त्तनीयम्, य एवं वर्त्तयति स इहलोके कीर्तिं परत्र मोक्षं प्राप्स्यति ।

ये वैष्णव धर्म वेदके अनुकूल है इन वाक्यों का सर्वदा वर्त्ताव करना जो मनुष्य उपरोक्त वाक्यों के अनुकूल

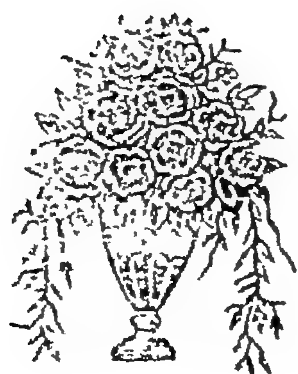
चालता है वह संसार में कीर्ति और परलोक में मोक्ष को प्राप्त करेगा।

१४६-गुरूपदेशं निरन्तरं चिन्तयन् कण्ठमालावत् हृदि धारयेत्।
गुरु उपदेश को नित्य प्रति चिन्तवन करते हुए कण्ठ-माला के समान हृदय में धारण करना।

१४७-गुरुं धर्मरूपिणं पितरं जानीत।
गुरुको धर्मरूपी पिता समझना।

१४८-उपरितना उपदेशा आपत्काले न पालिताः स्युश्चेत् धर्म्मो न नश्यति।
उपरोक्त किये हुए उपदेश आपत्तिकालके समय नहीं निभसकें तो धर्म नष्ट नहीं होता।

हरिः ॐ तत्सत् शान्तिः! शान्तिः!!



ॐ

* श्रीगणेशाय नमः *

स्त्री-उपदेश-पत्र

संस्कृत और भाषाटीका

जिसको—

स्वामी नर्मदानन्द ब्रह्मचारी ने

धार्मिक स्त्रियोंके हितार्थ रचकर

सनातनधर्म प्रेस

मुरादाबादमें छपाया

सम्वत् १९७०

Printer & Publisher

Pt. Ramswarup Sharma

Sanatandharm Press

MORADABAD.


MORADABAD

ॐ

* श्रीगणेशाय नमः *

स्त्री-उपदेश-पत्र

संस्कृत और भाषाटीका

जिसको—

स्वामी नर्मदानन्द ब्रह्मचारी ने

धार्मिका स्त्रियोंके हितार्थ रचकर

सनातनधर्म प्रेस

मुरादाबादमें छपाया

सम्वत् १९७०

Printer & Publisher

Pt. Ramswarup Sharma

Sanatandharm Press

MORADABAD.

॥ ॐ हरिः ॥

स्त्री—उपदेश—पत्रम्

१—सत्यं वद ।

सत्य बोलना ।

२—यावच्छक्यं मिथ्याभाषणं मा कुरु ।

अपनी शक्ति भर झूठ नहीं बोलना ।

३—परद्रव्यं मा हार्षीः ।

पराई वस्तु नहीं चुराना ।

४—द्यूतक्रीडा न कर्त्तव्या

जुवा नहीं खेलना ।

५—केनापि सह वञ्चकत्वं धूर्त्तत्वञ्च मा कुरु ।

किसीके साथ ठगाई व धूर्त्तपन नहीं करना ।

६—केनापि साकं ईर्षा न कर्त्तव्या ।

किसीके साथ ईर्षा (खार) नहीं करना ।

७—कस्यापि विषये पैशुन्यं मा कुरुत ।

किसीकी चुगली नहीं करना ।

८—केनचित् सह कलहं विवादञ्च मा कुरु ।

किसीके साथ लड़ाई झगडा नहीं करना ।

९—केनापि सह विरोधो न कर्त्तव्यः ।

किसीके साथ वैरभाव नहीं रखना ।

१०—सर्वस्य कल्याणमभिलषेः ।

सबके कल्याण की इच्छा करना ।

११-कस्मा अपि दुश्चिन्तनं न कर्त्तव्यम् ।
किसीका बुरा चिन्तवन नहीं करना ।

१२-केनापि सह विश्वासघातो न कर्त्तव्यः ।
किसी के साथ विश्वासघात न करना ।

१३-केनापि सह कृतघ्नत्वं न कार्यम् ।
किसीके साथ कृतघ्नता (कियेहुए उपकार को न मानना) न करना ।

१४-यः स्वसमीपमागच्छेत्तस्य सत्क्रिया कर्त्तव्या, यदि सः शत्रुरपि स्यात् ।
जो अपने समीप आवे उसका सत्कार करना, चाहे वह शत्रु भी हो ।

१५-आर्त्तस्य भक्तस्यच सर्वथा रक्षा कर्त्तव्या ।
दीन और भक्तकी हर प्रकारसे रक्षा करना ।

१६-अनाथस्य हीनाङ्गस्य दीनस्य दुःखितस्य चोपहासो न कार्यः ।
अनाथ, अंगहीन, दीन और दुखियों का हास्य न करना

१७-अहङ्कारं मा कुरु ।
अहंकार नहीं करना ।

१८-कस्मादपि मानं नेच्छेत् ।
किसीसे मान्यकी इच्छा नहीं रखना ।

१९-केनापि सह दम्भित्वं न करणीयम् ।
किसीके साथ पाखण्ड नहीं करना ।

२०-सर्वभूतेभ्य आत्मानं लघु जानीत ।
सर्व प्राणियों से अपने आप को छोटा मानो ।

२१-परेषां दुःखमवलोक्य प्रसन्ना न भवेत किंतु तद् दृष्ट्वा निजदुःखं स्मरत ।

परदुःख देखकर प्रसन्न नहीं होना अर्थात् परदुःख देख कर अपने दुःख को याद करना ।

२२-परसुखं समीक्ष्य प्रसन्नो भव ।

परसुख देखकर प्रसन्न होना ।

२३-जीवहत्या न कर्त्तव्या ।

जीवहिंसा नहीं करना ।

२४-परमन्यो मनुष्यः जीवहत्यां कुर्यात्तर्हि यथाशक्ति तमुपदिश्य प्राणिरक्षा कर्त्तव्या ।

परन्तु अन्य मनुष्य जीवहिंसा करता हो तो अपनी शक्ति अनुसार उसको उपदेश देकर जीवरक्षा करनी ।

२५-विना प्रयोजनं कस्मैचिदपि कठोरवचनं न प्रयोक्तव्यम्, (इदमपि जीवहिंसासममेव)

किसीको विना कारण कठोर वचन नहीं कहना (यहभी जीवहिंसा के समान है)

२६-कारणाभावे कस्मादपि वृक्षात् पत्रपुष्पफलशाखादिकं न पृथक् करणीयम् ।

विना कारण किसी वृक्ष के पत्र फूल फल शाखा आदि नहीं तोडना ।

२७-मद्यं न पेयम् ।

मद्य नहीं पीना ।

२८-मांसं न भक्षणीयम् ।

मांस नहीं खाना ।

२९-मादकं वस्तु न सेवनीयम्।
नशीली वस्तुको नहीं खाना।

३०-मदोन्मत्तस्य संमुखे न गन्तव्यं तथा तेन सह सम्भाषणमपि न कर्त्तव्यम्।
मतवाले (नशेबाज) के सामने नहीं जाना तथा उस से वार्त्तालाप भी नहीं करना।

३१-क्रोधो न कर्तव्यः।
क्रोध नहीं करना।

३२-अन्यो मनुष्यः क्रुध्येत् चेत्तर्हि मौनधारणं कर्त्तव्यम्।
अन्य मनुष्य क्रोध करे तो मौन धारण करना।

३३-मोहः परिवर्जनीयः
मोहका त्याग करना।

३४-दृष्टेरन्तर्हितस्य (विदेशगतस्य, मृतस्य वा) प्राणिनश्चिन्तनं मोह इत्युच्यते।
सन्मुख नहीं होने वाले (विदेश गये हुए तथा मरेहुए) प्राणीका चिन्तवन करना मोह कहलाता है।

३५-कस्मिंश्चिदपि कर्त्तव्ये कर्मणि वस्तुप्राप्तौ वा चिंता न कर्त्तव्या, यथा च लभ्येत स यत्नः कर्त्तव्यः,परन्तु सत्स्वरूपस्य परमात्मश्चिन्तनं कर्त्तव्यम्।
किसी कर्त्तव्य कर्मके विषयमें तथा वस्तु की प्राप्तिके विषय में चिन्ता नहीं करना जिसप्रकार प्राप्त होसके वो यत्न करना परन्तु सत्स्वरूप परमात्मा का चिन्तवन करना।

३६-विपदि धैर्यं धारणीयम्।
दुःखके समय धैर्य्य का धारण करना।

१७-कस्याप्यनुकृतिर्न करणीया परन्तु सत्कर्मणोऽनुकरणं न दोषावहम्।
किसीका अनुकरण (देखा देखी) न करना परन्तु सत्कर्म का अनुकरण करनेमें कुछ दोष नहीं है।

१८-सर्वेभ्यो विषयेभ्य इन्द्रियनिग्रहः कार्यः।
प्रत्येक विषयों से इन्द्रियों को रोकना

३९-स्वल्पपदार्थप्राप्तौ सन्तोषः कर्त्तव्यः।
थोड़ी वस्तु प्राप्त होनेपर संतुष्ट रहना

४०-निजकुटुम्बतश्चोरयित्वा किमपि वस्तु न भक्षणीयम्।
अपने कुटुम्बसे चुरा कर कोई पदार्थ नहीं खाना

४१-स्वकौटुम्बिकाना पुरुषाणां यथार्ह विनयेन सह सेवा कर्त्तव्या।
अपने कुटुम्बके योग्य मनुष्योंकी नम्रतासे सेवा करना

४२-निजकुटुम्बस्थस्य पुरुषस्य आज्ञानुकूलं व्यवहर्त्तव्यम्।
अपने कुटुम्बके मनुष्य की आज्ञानुकूल चलना।

४३-यस्य कार्यस्य करणे स्वकुटुम्बिनः प्रसन्ना न स्युः स कार्यो न कर्त्तव्यः।
अपने कुटुम्बीजन जिस कार्य के करने में प्रसन्न नहीं हों उस कार्य को नहीं करना।

४४-भवतां शुभकर्माणि यदि तेषां ज्ञानाविषयाणि न स्युस्तर्हि ते प्रार्थनापुरःसरं निवेदनीया अस्मिन् कार्येऽयं गुण इति।
तथा तुम्हारा शुभ कर्म उनकी समझमें नहीं आया हो तो प्रार्थनापूर्वक उनसे निवेदन करना कि इस कार्यमें

यह गुण है ।

४५-सत्कार्यानुष्ठाने कश्चित्कुटुम्बी कश्चिदन्यो वा पुरुषः निषेधेत् तर्हि मा स्वीकुरुत ।

उत्तम कर्म करनेमें कोई कुटुम्बीजन तथा और कोई मनुष्य मना करता हो तो मत मानो ।

४६-असत्कर्मकरणाय कश्चित्परिवारगतः पुरुषोऽन्यो वा आज्ञापयेत् तर्हि माङ्गीकुरुत ।

नीच कर्म करनेमें कोई कुटुम्बीजन तथा अन्य मनुष्य आज्ञा दे तो मत करो ।

४७-सूक्ष्मं वस्त्रं न धारणीयम् (यस्मिन् शरीरं दृश्येत) ।

महीन [जिसमें शरीर देख पड़े] वस्त्र नहीं पहरना ।

४८-यस्मिन् गाने कुवचनं [निरपत्रपत्वव्यञ्जकम्] भवेत् तन्मा गायत ।

जिस गीत में कुवचन [निर्लज्ज शब्द] हो ऐसे गीत को नहीं गाना ।

४९-पतिसेवापरायणा भूयाः ।

पतिकी सेवामें तत्पर रहना ।

५०-पत्युः क्रोधकाले प्रत्युत्तरं न देयम् ।

पतिके क्रोधके समय उत्तर नहीं देना ।

५१-पत्युर्दुःखसमये छायेव सह स्थेयम् ।

पतिके दुःख समय छायाके समान साथ रहना ।

५२-हठात्पत्युः किमपि वस्तु [भूषणवस्त्रादिकम्] मायाचध्वम् ।

पतिसे आग्रह करके कोई वस्तु (जेवरवस्त्र] नहीं मांगना।

५३—पत्या सह सविनयं प्रियवचनपूर्वकं भाषणं कर्त्तव्यम् ।
पतिके साथ नम्रता तथा प्रिय वचन से बोलना ।

५४—स्वामिना सहोच्चैर्नैठुर्येण च सम्भाषणं न कर्त्तव्यम् ।
पतिके साथ ऊँची और कठोर वाणी से नहीं बोलना ।

५५--स्वामिन अप्रिया वाणी न प्रयोक्तव्या ।
पतिसे अप्रिय भाषण नहीं करना ।

५६--पतिः परः पूजनीय इति मन्तव्यम् ।
पति को परं पूजनीय मानना ।

५७--पतिभोजनानन्तरं भोजनं कर्त्तव्यम् ।
पतिके भोजन केपीछे भोजन करना ।

५८—पत्युच्छिष्टं परमप्रसादवत् स्वीकुरुत कदापि मा त्यजत
पतिके उच्छिष्ट को उत्तम प्रसाद मानकरग्रहण करना उसे कदापि नहीं त्यागना ।

५९—पत्युरायतो न्यूनं व्ययं विधायावशिष्टंधनंसञ्चिनुत ।
पतिकी आजीविका से कम खर्च करके शेष द्रव्य को संचित करना ।

६०—विनाज्ञां स्वामिनः परसद्मनि मा गच्छत ।
पतिके विन आज्ञा परघर नहीं जाना ।

६१—पत्युराज्ञामन्तरेण किमपि यज्ञव्रतादिकं मा धारयत ।
पतिके विन आज्ञा किसी यज्ञ या व्रत को धारण नहीं करना ।

६२—सधवया निराहारव्रतं न करणीयम् ।
सौभाग्यवती को निराहार व्रत नहीं करना ।

६३—विधवा नार्यः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकं निराहारव्रतं कुर्युः ।
विधवा स्त्रियों को कृच्छ्र चांद्रायणादि निराहार उपोषण करना ।

६४—सदा ब्रह्मचर्येण स्थातव्यम् ।
सदा ब्रह्मचर्य से रहना ।

६५—सदा निजसद्मनि स्थित्वा भगवत्प्रतिमापूजने स्तोत्रादिपाठे विष्णुस्मरणे च संलग्नत ।
सदा अपने स्थानपर रहकर ईश्वरप्रतिमा-पूजन स्तोत्रादि पाठ विष्णुस्मरण में तत्पर रहना ।

६६-आवश्यके कार्ये सत्यपि कुटुम्बिनामाज्ञां गृहीत्वा बहिर्गन्तव्यम् ।
आवश्यक कार्य होने पर भी कुटुम्बजन की आज्ञा लेकर बाहर जाना ।

६७—सततं ब्रह्मविद्यायाः [मोक्षपर्यन्तम्] साधने तत्परा भवत ।
हरसमय ब्रह्मविद्या [मोक्ष होनेके पर्यन्त] के साधन में तत्पर रहना ।

६८-परपुरुषं भ्रातृवत् पुत्रवत् पितृवत् विजानीत ।
परपुरुषको भ्राता, पुत्र, पिताके समान जानना ।

६९-परपुरुषं दृष्ट्वा लज्जाङ्गनिगूहनञ्च कर्त्तव्यम् ।
पर पुरुषको देखकर शरम तथा परदा [मुख हाथ पैर

पर वस्त्र ढाकना) करना।

७०-प्रच्छन्नरूपेण परपुरुषतः किमपि वस्तु न गृहीतव्यम्।
परपुरुष से किसी वस्तु को गुह्यरूपसे नहीं लेना।

७१-परपुरुषेण सह विविक्तस्थाने न स्थेयम्।
परपुरुष के साथ एकान्तस्थानमें नहीं बैठना।

७२-परपुरुषेण सह हास्यं न कर्त्तव्यम्।
परपुरुष के साथ नहीं हँसना।

७३-परपुरुषेण सह नृत्यं गानञ्च न कर्त्तव्यम्।
परपुरुष के साथ नृत्य व गीत नहीं करना।

७४-परपुरुषस्योच्छिष्टं न भक्षणीयम्।
परपुरुष का उच्छिष्ट नहीं खाना।

७५-परपुरुषेण सह रहस्यादि क्रीड़ा न कार्या।
परपुरुष के साथ रास आदि क्रीडा नहीं करना।

७६-जीवयुक्तान् शाकपुष्पफलादीन् मा खादत।
जिस शाक फूल फल पदार्थमें जीव हो उसे नहीं खाना।

७७-मद्यवद्गन्धयुक्तान् शाकपुष्पफलमूलादीन् मा भक्षत।
जिस शाक फल फूल कन्द आदिक में मद्यकीसी दुर्गन्ध हो उसे मत भक्षण करो।

७८-अतिमधुरं भोजनं न कर्त्तव्यम्।
बहुत मीठा भोजन नहीं करना।

७९-पर्युषितं धातुदूषितञ्चान्नं न भक्षणीयम्।
बासी तथा कसैला अन्न नहीं खाना।

८०-अवस्नातं जलं न पेयं, प्रातरन्नभोजनात्पूर्वमपि जल-पानमहितकरम्।

वस्त्रसे विनाछाने जल न पिये और प्रातःकाल भोजन से पहिले (निन्हे मुह) जल पीना भी हानि करता है

८१-क्षुधातो न्यूनं भोजनं कर्त्तव्यम् ।

भूखसे कम भोजन करना ।

८२-यदा बुभुक्षा बाधेत तदैव भोजनं करणीयम् ।

जिस समय भूख लगे उसी समय भोजन करना ।

८३-स्वादुरूपेणौषधं न सेव्यम् ।

स्वाद लेले कर औषध नहीं पीना ।

८४-औषधममृतरूपं मत्वा सेवनीयम् ।

औषधिको अमृतसमान जानकर सेवन करना ।

८५-औषधसेवनसमये यो दुःखितो भवति स पापेन लिप्यते ।

औषधि सेवन करते समय जो दुःखित होताहै वह पापसे लिप्त होता है ।

८६-अध्वनि गमनकाले भूमिं निरीक्ष्य पादं निक्षिपेत् ।

मार्गमें चलते समय पृथ्वीको देखकर पैर धरे ।

८७-आकाशम्प्रत्यवलोक्य गमनेन जीवहिंसा रोगाद्यनेककष्ट प्राप्तिश्च भवत्यतो भूमिं विलोक्य व्रजत ।

आकाशकी ओरको देखकर चलने से जीवहिंसा व अनेक रोगादि कष्ट होते हैं इसलिये भूमि की ओर को देखकर चलो ।

८८-केनाप्यन्यपुरुषेण दृष्टिमेलनं न कर्त्तव्यम् ।

किसी अन्य पुरुषसे दृष्टि नहीं मिलाना ।

८९-मार्गं गच्छन् वृक्षशाखां तृणादिकञ्च मा छेत्सीः ।

मार्गमें चलते समय वृक्षकी डाली तथा तृण आदि नहीं तोड़ना ।

१०-अज्ञातगाम्भीर्ये कस्मिन्नपि खाते नद्यां वा न प्रवेष्टव्यम्
गहराई विन जाने किसी खाई व नदीमें नहीं घुसना।

११-दिवा शयनं न कर्त्तव्यम्।
दिनमें नहीं सोना।

१२-रात्रौ न जागृतव्यं, षट्घण्टा (पञ्चदशघटिका) कालं शयनं कर्त्तव्यम्, गुरुजनेभ्यः पश्चात् शयितव्यं पूर्वञ्चोत्थातव्यम्।
रातमे नहीं जागना तथा छ घण्टे (पन्द्रह घड़ी) सोना, अपने बड़ों से पीछे सोना और पहिले उठना।

१३-कस्मिन्नपि मिथ्या साक्ष्यं न देयम्।
किसी विषयमें झूठी साक्षी (गवाही) नहीं देना।

१४-एकस्मिन् स्थाने द्व्यधिकासु स्त्रीषु संमिलितासु सत्सम्भाषणं कुरुत विरुद्धभाषणं कस्यचिन्निन्दा वा न कर्त्तव्या
दो से अधिक स्त्रियों की संख्या एक स्थानमें होने पर उत्तम बात करनी अर्थात् विरोधयुक्त कथा वा किसी की निन्दा नहीं करनी।

१५-शौचतत्परया पवित्रतायुक्तया च भवितव्यम्।
शौच ओर पवित्रता से रहना।

१६-नित्यं स्नानं कर्त्तव्यम्।
नित्य स्नान करना।

१७-उपरिष्टात्पततो जलस्याधः स्थित्वा स्नानं मा कुरुत।
ऊपरसे गिरते हुए जलके नीचे खड़े होकर स्नान मत करो

१८-जले क्रीड़ां मा कुरुत।

जलमें खेल मत करो ।

९९-नग्नो भूत्वा मा स्नाहि ।

नंगे होकर स्नान नहीं करना ।

१००-सतां सङ्गः कर्त्तव्यः ।

सत्पुरुषों का संग करना ।

१०१-निरन्तरमीश्वरस्मरणं कुरु ।

नित्यप्रति ईश्वरस्मरण करना ।

१०२-ईश्वरस्मरणं प्रच्छन्नं कार्यम् ।

ईश्वर स्मरण गुह्यरूप से करना ।

१०३-ईश्वरस्मरणसमये निजपत्युःकुटुम्बिजनस्य वा आगमने तदा तेषां अवश्यकर्त्तव्यशुश्रूषोपस्थितौ स्मरणं विहाय प्रथमं तेषां सेवाकार्यं विधाय पश्चान्नित्यकर्म समाप्तव्यम् ईश्वरस्मरण के समय स्वपति तथा कुटुम्बजन के आगमन होने पर उनकी योग्यसेवा उस समय पर हो तो स्मरण छोड प्रथम उनकी सेवा करके फिर नित्यकर्म को पूरा करना ।

१०४-निराहारव्रताचरणेन यदीश्वरस्मरणमशक्यं भवेत्तर्हि निरशनं न कृत्वा भगवद्भजनमेव विधेयम् ।

निराहार व्रत करनेसे ईश्वरस्मरण न होसके तो उपोषण नहीं करके भगवद्भजन ही करना ।

१०५-गृहकार्यतः प्राप्तावसारानुकूलं सत्यविद्याध्ययनं कार्यम्

गृहकार्यसे समय मिलनेके अनुसार सत्य विद्या पढ़े ।

१०६-गृहकार्यतः समयप्राप्तौ शिल्पविद्या (सीवनविरचनादिकम्) ज्ञेयं कार्यञ्च ।

गृहकार्य से समय मिलनेपर हस्तविद्या (सीना पिरोना कसीदा आदि) सीखना तथा करना।

१०७-निजबालकान् (कन्याः पुत्रांश्च) विद्यां पाठयत।

अपने बालक (कन्या, पुत्र को) विद्या पढ़ाना।

१०८-निजबालकानां नित्यं लालनं न कृत्वा सदासत्कर्मणे ताडनं कर्त्तव्यम्।

अपने बालकों को लाड नहीं करके सदा उत्तम कर्म के लिये ताडना करना।

१०९-निजबालकेभ्यः प्रहरणस्य गालिप्रदानादिकुवचनस्य च शिक्षा न देया न दापयितव्या।

अपने बालकों को मारना गाली आदि कुवचन नहीं सिखाना तथा सीखनेदेना।

११०-बालकेपूपनयनसंस्कारयोग्येषु जातेषु यज्ञोपवीतिनो कारयत।

बालकके यज्ञोपवीत संस्कार के योग्य होनेपर यज्ञोपवीत धारण करवाना।

१११-बालकेभ्यः सदा शुद्धाचारशिक्षा गृहकार्यशिक्षा च देया।

बालकोंको सदा शुद्ध आचार तथा गृहकार्य सिखाना।

११२-कन्याविक्रयं न कार्यं(धनमादाय कन्याविवाहो न कर्त्तव्यः)

कन्याविक्रय नहीं करना (कन्या का द्रव्य लेकर विवाह नहीं करें)।

११३-वेदपाठिने तपस्तत्पराय सदाचाररते पक्षपातविहीनाय ब्राह्मणाय दानं मेघमुखे जलवत्परमोत्तमम्।

वेदपाठी तपस्या से युक्त शुद्ध आचरण पक्षपात से रहित

ऐसे ब्राह्मण को दान देना अति उत्तम है जैसे बादल के मुखमें जल।

११४-त्रिकालसन्ध्याकर्त्ता शुद्धाचारविचारपरस्तपोयुक्तो ब्राह्मणोऽपि दानपात्रो भवति।

त्रिकाल सन्ध्या करनेवाला शुद्ध आचार तपस्यायुक्त ब्राह्मण भी दान के योग्य है ।

११५-विद्याविहीनाय गायत्रीजपविरहिताय ब्राह्मणाय दानं भस्मनि आहुतिदानमिव निष्फलम् ।

विद्याहीन गायत्री जपसे हीन ब्राह्मण को दान देना निष्फल है जैसे राखके बीचमें होम आहुति।

११६-शान्तस्वभावायोत्तमकर्मकर्त्रे विप्रायापि धनदानमुचितम्

शान्तस्वभाव उत्तम कर्म करनेवाले ब्राह्मण को भी दान देना ठीक है ।

११७-मद्यमांसाशिने निन्दकाय परांगनासक्ताय दर्पपरायणाय द्यूतकारिणे दुराचारिणे ब्राह्मणाय धनदानेन तत्कृतानि पापकर्माणि दातारं तत्कालमेव स्पृशन्ति।

मद्य मांस खानेवाला निन्दक परस्त्री सेवी अहंकारी द्यूतकर्मी दुराचारी ऐसे ब्राह्मण को दान देनेसे उसके पाप कर्म कियेहुए उस दाताको तत्काल चिपटते हैं।

११८यश्च ब्राह्मणः सर्वगुणसम्पन्नः सन् धनं सञ्चिनोति तस्मा अपि दानं निष्फलं भवति।

सर्वगुणसम्पन्न होकर भी ब्राह्मण द्रव्यसंचित करता हो तो उस दान का फल भी निष्फल है।

११९-यो ब्राह्मणः सम्मुखे भवन्तमत्यन्तं प्रशंसति तस्मै दानमपि निष्फलं भवति ।

जो ब्राह्मण अपनी मुखपर अतिप्रशंसा करताहो उसको भी दान देना निष्फल है।

१२०-दानं कृत्वा फलेच्छा न कार्या।

दान देकर फलकी इच्छा नहीं करना।

१२१-कनिष्ठदानेन महद्दानभावना न कार्या यथान्नराशिं प्रदाय गिरिदानभावना।

कनिष्ठदानसे महत् दान की भावना नहीं करना (जैसे अन्न की ढेरी करके परवत दानकी भावना)

१२२-निर्धनद्विजस्य यथाशक्ति अन्नवस्त्रादिना पालनं कर्त्तव्यम्।

गरीब द्विजका पालन अन्न वस्त्रादि द्वारा यथाशक्ति करना।

१२३ विवाहयोग्याया निर्धनद्विजकन्याया विवाहो यथाशक्ति धनं दत्त्वा कारयितव्यः।

गरीब द्विजकन्याका विवाह योग्य होनेपर यथाशक्ति द्रव्य देकर विवाह करवाना।

१२४-निर्धनद्विजपुत्रस्य यज्ञोपवीतसंस्कारो यथाशक्ति द्रव्यं प्रदाय कारयितव्यः (स्वपुत्रस्यापि)।

गरीब द्विजपुत्रका यज्ञोपवीत संस्कार यथाशक्ति द्रव्यादि देकर करवाना (स्वबालकका भी)

१२५-पाठशालायां पुत्राणां कन्यानाञ्च पाठनविषये यथाशक्ति धनं देयम्।

पाठशाला में पुत्र तथा कन्या पढाने में यथाशक्ति द्रव्य-दान देना ।

१२६-भोजनवेलायामागतायातिथये भोजनं देयं (परन्तु शान्तिशीलो भोजनधिकारि च स्यात्)

भोजन के समय आयेहुए अतिथि को अन्न देना (परन्तु शान्त स्वभाव अन्न का पात्र भी हो)

१२७-निर्धनाय नेत्रविहीनाय पंगवे रोगिणे कुष्ठिने दुर्बलाय दुःखिनेऽन्नं वस्त्रञ्च देयम् ।

गरीव अन्धे लूले लँगड़े रोगी कुष्ठी दुर्बल दुःखी को अन्न वस्त्र दान देना ।

१२८-दीनबालवृद्धाश्चेदनाथाः स्युस्तर्हि यथाशक्ति अन्न वस्त्रादिकं देयम् ।

गरीव बालक कन्या वृद्ध अनाथ होनेपर यथाशक्ति अन्न वस्त्रादि दान देना ।

१२९-गोकुक्कुरादिभ्यो यथाशक्ति अन्नं देयम् ।

श्वान गौ आदि को शक्तिअनुसार अन्न देना ।

१३०-पक्षिभ्यो यथाशक्ति अन्नं देयम् ।

पक्षियोंको यथाशक्ति अन्न देना ।

१३२-धेन्वादिपशुभ्यो यथाशक्ति तृणं जलञ्च देयम् ।

गौ आदि पशुओंको यथाशक्ति तृण जल देना ।

१३३-कस्यापि दानस्य मूल्यरूपं धनं न देयम् ।

किसी दानका निष्क्रय (नगद द्रव्य) नहीं देना ।

१३४-पूर्णदानस्य श्रद्धाभावे स्वल्पं न देयं दानाभिलाषापि न कार्या केवलमीश्वरस्मरणमेव कर्त्तव्यं तेनैव महतामपि दानानां फलमवाप्यते ।

पूर्णदान देनेकी श्रद्धा नहीं होनेपर थोड़ा द्रव्य नहीं देना और न दानकी इच्छा करनी, केवल ईश्वरस्मरण करना उसीकेद्वारा बड़ेबड़े दानोंका फल प्राप्त होता है।

१३५-कस्मैचिन्निःसंगाय साधवे मुद्राधनं न देयम् ।
किसी निहंग साधुको नगद द्रव्य नहीं देना।

१३६-यत्र जलाभावस्तत्र यथाशक्ति जलं पाययेत ।
जिस स्थान पर जलका अभाव हो उस स्थान पर शक्ति-अनुसार जल पिलाना ।

१३७-देवमन्दिरं कूपतडागादिकं च यदि जीर्णं स्यात्तर्हि यथाशक्ति धनं दत्त्वा जीर्णोद्धारः कारयितव्यः ।
जीर्ण देवस्थान कूप ताल आदि हों तो उन्होंका जीर्णोद्धार यथाशक्ति दान देकर करवाना ।

१३८-देवालये मुद्राधनं न समर्पयेत, अर्थात्-अन्नघृतधूपनैवेद्यतैलफलपुष्पादिकं वस्तु यथाशक्ति समर्पयेत् ।
देवस्थानमें नगद द्रव्य नहीं चढाना अर्थात् अन्न घृतधूप नैवेद्य तैल फल फूल आदि वस्तु अपनी शक्ति अनुसार अर्पण करनी ।

१३९-देवमन्दिरे बहुकालं न स्थेयं नारायणप्रतिमाया दर्शनं कृत्वा द्रुतं स्थानमागच्छेत्तदनन्तरं तस्या एव मूर्तेर्ध्यानं विधेयम् ।
देवस्थान में अधिक समय तक नहीं ठहरना नारायण की प्रतिमा का दर्शन करके शीघ्र स्थान पर आना बाद उसी मूर्त्तिका ध्यान करना ।

१४०-सर्वेषु देवेषु सर्वेषु दृश्यपदार्थेषु च ब्रह्मभावना कार्या ।

सर्व देवताओंमें सर्व दृश्य पदार्थों में ब्रह्मभाव मानना ।

१४१-कस्याश्चिदपि देवताया न्यूनाधिक्यं कथयित्वा निन्दा न कार्या ।

किसी देवताको छोटा बड़ा कहकर निन्दा न करे ।

१४२-पितृश्राद्धं श्रद्धापूर्वकं विधाय वेदपाठपरायण एकस्त्रयो वा ब्राह्मणा भोजयितव्याः ।

पितृश्राद्ध श्रद्धासहित करके वेदपाठी एक तथा तीन ब्राह्मणोंको भोजन करवाना ।

१४३-शास्त्रे नास्तिक्यं न कार्यम् (अर्थात्-प्राचीनसत्य शास्त्राणि मिथ्या ज्ञात्वा नवीनकल्पितशास्त्रस्वीकरणं नास्तिक्यम्) ।

शास्त्रमें नास्तिकपन नहीं करना (अर्थात् प्राचीन सत्य शास्त्रोंको मिथ्या मान कर नवीन मिथ्या शास्त्रको सत्य मानना यह नास्तिकपन है) ।

१४४-वेदशास्त्रस्य धर्मशास्त्रस्य च शासनं सदास्वीकरणीयम् ।

सदा वेदशास्त्र और धर्मशास्त्रको मानना ।

१४५-वेदशास्त्राणि दृष्ट्वैव प्रणामं कुरुत ।

वेद शास्त्रको देखकर प्रणाम करना ।

१४६-इदं वैष्णवं धर्मं वेदानुगतं एतानि वाक्यान्यनुकर्त्ता च सदा स्वर्गभोक्ता संसारे च महायशा भविष्यति ।

ये वैष्णव धर्म वेद अनुकूल है इन वाक्यानुकूल वर्ताव

करना वो सर्वदा स्वर्गमें निवास करनेवाला होगा और संसार में कीर्ति बढ़ेगी ।

१४७-गुरूपदेशं नित्यं चिन्तयन् उपर्युक्तमुपदेशं कण्ठमाला-वत् हृदि धारयेत् ।

गुरु उपदेश को नित्यप्रति चिन्तवन करतेहुए इन उपरोक्त उपदेशको कण्ठमालाके समान हृदयमें धारण करना ।

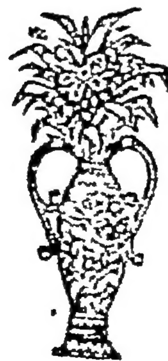
१४८-गुरुं धर्मरूपिणं पितरं जानीत ।

गुरु को धर्मरूपी पिता समझना ।

१४९-उपर्युक्ता उपदेशा आपत्काले न पालिताः स्युश्चेत् धर्मो न नश्यति ।

उपरोक्त उपदेश कियेहुए आपत्काल आनेपर यदि पाले न जासकें तो धर्म नष्ट नहीं होता ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् शान्तिः शान्तिः ॥



करना वो सर्वदा स्वर्गमें निवास करनेवाला होगा और संसार में कीर्ति बढ़ेगी ।

१४७-गुरूपदेशं नित्यं चिन्तयन् उपर्युक्तमुपदेशं कण्ठमाला-वत् हृदि धारयेत् ।

गुरु उपदेश को नित्यप्रति चिन्तवन करतेहुए इन उपरोक्त उपदेशको कण्ठमालाके समान हृदयमें धारण करना ।

१४८-गुरुं धर्मरूपिणं पितरं जानीत ।

गुरु को धर्मरूपी पिता समझना ।

१४९-उपर्युक्ता उपदेशा आपत्काले न पालिताः स्युश्चेत् धर्मो न नश्यति ।

उपरोक्त उपदेश कियेहुए आपत्काल आनेपर यदि पाले न जासकें तो धर्म नष्ट नहीं होता ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् शान्तिः शान्तिः ॥

